रंग संवाद

नवम्बर 2014

वनमाली सृजन पीठ का
संवाद पत्र

प्रधान संपादक

संतोष चौबे

choubey@aisect.org

संपादक

विनय उपाध्याय

vinay.srujan@gmail.com

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता

शब्दांकन : मुकेश सेन

संपादकीय संपर्क :
वनमाली सृजन पीठ,
22, E-7, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428
ई-मेल : vanmalisrijanpeeth@gmail.com

●●●

ज़रूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित। मुद्रक - पहले पहल प्रिंटरी, 25-ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

इस अंक में...

संस्कृति का पालना है नदी - **अमृतलाल वेगड़** / 5

कला में अमूर्त - **मुकुन्द लाठ** / 10

जीवन चक्र के आसपास एक पवित्र ध्वनि - **वसन्त निरगुणे** / 16

वेणु का विश्व - **रघुनाथ सेठ** / 20

नृत्य के परिसर में अभिनय - **यतीन्द्र मिश्र** / 23

पहर-पहर की सिंगारी - **नर्मदा प्रसाद सिसोदिया** / 26

यह वर्जना मुक्त समाज का दौर है
कथाकार ममता कालिया से शशांक एवं रेखा कस्तवार की बातचीत / 30

कुहासे में लोक कलाएँ - **भारत डोगरा** / 38

हाशिये पर हुनर - **त्रिपुरारी शर्मा** / 39

मैं निर्देशक को नाटक का समानांतर लेखक मानता हूँ
प्रभाकर श्रोत्रिय से जयदेव तनेजा की बातचीत / 41

रंगभूमि के अनत - **कमल किशोर गोयनका** / 47

उत्कृष्टता पत्थर की लकीर नहीं
लेखिका गगन गिल से पंकज शुक्ला का संवाद / 49

कवि केदारनाथ सिंह की कविताएँ / 53

स्मृति शेष - / 57

रंग, रूप और खुश्बू का प्रतिरूप : (प्रभात गांगुली) **रामप्रकाश** / 57

अब अनंत में मूर्ति (के. अनंत मूर्ति) **मंगलेश डबराल** / 62

अप्पा की पेटी और नाचती उंगलियाँ (अप्पा जलगाँवकर) **विजयबहादुर सिंह** / 63

एक समावेशी आलोचक का जाना (सुरेश पंडित) **अरुणेश शुक्ल** / 66

हम अचानक बीत जायेंगे (ज्योत्सना मिलन) **महेन्द्र गगन** / 67

अपनी ज़िद का किरदार (जावेद ज़ैदी) **सुनील मिश्र** / 68

सरलता का शिखर (शिव कुमार चवरे) **विनय उपाध्याय** / 69

शून्य में विलीन हो गई संभावना (शैलेन्द्र) **सुनील मिश्र** / 70

मन में संतूर, होंठों पर गान - **विवेक मृदुल** / 71

चीन में सोलह दिन - मंजूषा गांगुली / 74

शेष विशेष - नाटक कोई पैकेज नहीं है - **विनय उपाध्याय** / 78

अंधेरे में : पचास वर्ष की युवा-कविता - **रमेश दवे** / 80

ग्राम्य जीवन का नया आख्यान - **राकेश कुमार सिंह** / 81

सृजन के आसपास / 82

● **आकल्पन** : विनय उपाध्याय ● **आवरण चित्र** : प्रवीण दीक्षित ● **आवरण सज्जा** : वंदना श्रीवास्तव
● **भीतर के छायाचित्र** : सौरभ अग्रवाल, विजय रोहतगी, मनोहर काजल, प्रवीण दीक्षित, अरुण जैन, अमीन अख़्तर
● **रेखांकन** : ब्रजेश बड़ोले ● **सहयोग** : मोहन सगोरिया

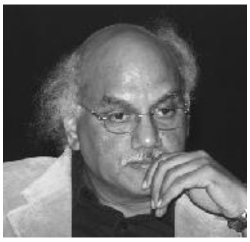

भजन : एक पुनर्विचार

संपादकीय

आकाश में तैरते शोर भरे भजनों का महीना अभी-अभी खत्म हुआ है। नवरात्रि के कुछ दिनों पहले से ही, या कहें गणेश उत्सव के आगमन के साथ-साथ शहर के आकाश पर लाउडस्पीकरों का कब्जा हो जाता है। धार्मिक श्रद्धा का सारा ज्वार, धरती पर स्थित सभी न्यायालयों के आदेशों को धता बताते हुये, आकाश की ओर उठने लगता है। हर मोहल्ले में मां दुर्गा या भगवान गणेश की प्रतिमा स्थापित होते ही जैसे मोहल्ला समिति को यह स्वतंत्रता मिल जाती है कि वह जब चाहे, जैसे चाहे कर्कश, बेसुरे भजनों को उतने ही कर्कश और खर-खर लाउडस्पीकरों के माध्यम से आप पर उंड़ेले। आप चूं भी नहीं कर सकते।

हो सकता है अभी-अभी सर्दियों की, हल्की ठंडक वाली सुबह हुई हो। आप शायद उठकर सैर पर जाना चाहें या फिर वह किताब जो कल रात अधूरी छूट गई थी उसे अपनी बालकनी में बैठकर पढ़ना चाहें। या बच्चे की तिमाही परीक्षा के लिये उसके साथ बैठकर गणित के कुछ सवाल हल करना चाहें। या सिर्फ पत्नी के साथ चुपचाप बैठकर, अखबार और चाय के साथ सुबह की एक सुकून भरी शुरूआत करना चाहें। या फिर कुछ भी नहीं। आखिर घर आपका है।

पर ठहरिये आपको गलतफहमी है। सुबह पांच बजे से चौराहे पर स्थित पूजा स्थल की ओर से लाउडस्पीकर पर कैसेट चला दिया जायेगा जो सुबह की तुलनात्मक शांति और अपनी ऊब भरी पुनरावृत्ति में आपके दिमाग पर और ज्यादा आघात करेगा। अभी आप झल्ला कर उठे ही होंगे कि सामने के पार्क में या कि घर के सामने किसी भी स्थान में खुले स्थान पर स्थापित की गई प्रतिमा की सेवा में रत उत्साही नवयुवकों द्वारा सुबह की आरती की भूमिका के रूप में किसी स्थानीय गायक की तीखी आवाज से बिंधा कोई और कैसेट लगा दिया जायेगा और ध्यान दें, भोंगले का मुंह आपके घर की ओर ही होगा।

आप सोचेंगे कि चलो एक आध घंटे इसे सह लेते हैं। पर नहीं। वह पूरे दस बजे तक चलता रहेगा। वही भजन जो आपने कल सुने थे, और परसों सुने थे, और उसके पहले दिन सुने थे, और शायद पिछले साल भी। फूहड़ फिल्मी गानों की पैरोडियाँ, बेतुके शिल्प में गुंथी कवितायें। ईश्वर की संवेदना पर भी आघात कर सकने वाली अपेक्षायें। कस्बों और गाँवों से उठे स्थानीय गायकों की उत्साह भरी आवाजें।

आप शायद भागकर कार्यालय जाना चाहें। पर कोई गारंटी नहीं कि कार्यालय के सामने के किसी मकान में किसी श्रद्धालु ने किसी अखंड पाठ का आयोजन न कर रखा हो। वहाँ से भी घबरा कर आप कहीं वापस घर न चले आइयेगा क्योंकि वहाँ, सामने वाले पार्क में भागवत कथा का आयोजन है, जो लगातार सात दिन तक चलेगा, अपने पूरे विधि विधान और प्रवचन के साथ, जो करीब पांच लाउडस्पीकरों के द्वारा पूरे मोहल्ले में दोपहर एक बजे से शाम छः बजे तक प्रसारित किया जायेगा। और अगर आप शाम को समय पर घर पहुंचे तो फिर आरती पूर्व के भजन और आरती बाद के भजन तो आपका इंतजार कर ही रहे होंगे। फिलहाल कम से कम रात बारह बजे तक सोने या पढ़ने का ख्याल छोड़ दीजिये। चौराहे पर वही उबाऊ पुनरावृत्ति जो जारी है। आप भाग्यशाली हैं अगर समिति के मन में रात्रि जागरण का विचार नहीं आया है। अन्यथा नाल की चाटी होगी और होगा हजारों वॉट का संगीत, एन आपके घर के पीछे।

आप कहेंगे, भगवान मुझे अपने भजनों से बचा!

मैं थोड़ा रुकता हूँ और सोचता हूँ, हमेशा से तो ऐसा नहीं था। न ही ऑडियो टेक्नोलॉजी के विस्तार को आवश्यक रूप से इस तरह ही प्रतिफलित होना चाहिये था।

अभी अभी तो लता दी ने वह मीठा भजन गुनगुनाया था 'प्रभु तेरो नाम, जो ध्यावे फल पावे' या ऊषा खन्ना ने बनाया था 'अल्लाह तेरो नाम ईश्वर तेरो नाम', अभी अभी तो हमने 'संत ज्ञानेश्वर' फिल्म देखी थी और 'बैजू बावरा' और 'नानक नाम जहाज है' जिसमें मोहम्मद रफी के गाये भजन किसी को भी पिघला सकते थे। और हरिओम शरण को कैसे भूल जायें जिन्हें दोपहर की शांति में 'आकाशवाणी' हमारे घर भेज देती थी और किशोरी अमोनकर का 'म्हारो प्रणाम' और भीमसेन जोशी के 'अभंग' और हृदयनाथ मंगेशकर का 'चला वाही देस' और पंडित जसराज और अमीर खान और कुमार गंधर्व के कबीर.... फिर भजनों का एक बहुत ही व्यक्तिगत संसार भी था, जो मां ने बनाया था। ठंड की ओस भरी सुबह में रजाई में लिपटे हुये, गर्मी की सुबह में सरसराती हवा के बीच, बारिश के उमगते बादलों के सान्निध्य में एक पवित्र विचार, सुरीले संगीत और अच्छाई की परिकल्पना का एक संसार जो मां के भजनों से बनता था। संसार से अपने अन्यान्य परिचयों के बावजूद इस प्रारम्भिक संगीतमय संसार ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा था।

वो 'नटवर नागर नंदा', 'धंधौ करत दिन जाय', 'कोई कहियो रे', 'मेरे गिरिधर गोपाल', 'मोहे कृष्णा से प्रीत लागी', 'सरजू के तीर', 'तू ही परमेश्वर मेरा', 'हरिनाम सुमिर सुखधाम', 'गुरूजी जिंदगानी का', 'मोहे जेहि अचरज', 'हरि भये द्वारकानाथ', 'ऐसी विपत में सुमरौ मैं तुमकौ' जैसे भजन अपनी मीठी, अछूती धुनों के साथ मेरे दिमाग में ज्यों के त्यों, ताज़ा के ताज़ा हैं और मेरे व्यक्तिगत संसार को समृद्ध करते हैं। लेकिन लाउडस्पीकर पर आ रहे सतत प्रवाह की एक भी लाइन मुझे याद नहीं।

इस तरह मैं भजनों के बारे में इस परस्पर विरोधी निष्कर्ष पर पहुंचता हूँ। जब तक वे एक व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभव का हिस्सा रहते हैं, एक सुखद संगीत की तरह मन में बने रहते हैं पर जैसे ही वे एक सामाजिक शोर का हिस्सा बनते हैं उनसे वितृष्णा सी होने लगती है।

पिछले दिनों मैंने अम्मा के भजनों को सहेजने की सोची। पहले उन्हें लिखा। फिर कच्ची धुनें उन्हीं के मुख से रिकॉर्ड कीं। फिर कुछ सुरीले साथियों से उन्हें गवाया। और हम भाई बहनों ने उन कैसेट्स को अपने पास रखना तय किया। इस दौरान एक जो आश्चर्यजनक बात सामने आई वह आपको बताना चाहता हूँ। मैंने अम्मा से पूछा कि ये भजन उनके पास कहाँ से आये। उन्होंने बताया कि कुछ भजन दादी के हैं जिन्हें वे सुबह सुबह गुनगुनाती थीं, कुछ कक्का के जिसे वे दालान में खड़े गाया करते थे और कुछ काम पर आने वाली महरी के जिसे वह फुरसत के क्षणों में ढोलक पर गाकर सुनाती थी और कुछ उनकी सहेलियों के जिन्हें वे समूह में गाती थीं। हर भजन का एक व्यक्तित्व था और अम्मा के दिमाग में वे किसी जीवित पात्र की तरह थे।

इससे भी बढ़कर ये कि भजनों का भी एक चरित्र था। वे जो समृद्ध घरों से आये थे आनंद से भरे थे और वे जो निचले तबके से आये थे गहरी करुणा और उदासी से भरे। अपने प्रतीकों में सरल और गतिमान वे निजी पीड़ा को एकसाथ गहराते और हल्का करते थे। और मैं एक और परस्पर विरोधी निष्कर्ष पर पहुंचता हूँ। मैं लाउडस्पीकर से पैदा किये जा रहे सामाजिक शोर का विरोध करूंगा और अपने व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभव को सहेजने का काम करूंगा।

टेक्नोलॉजी, कहीं ये तुम्हारे द्वारा पैदा किया गया अंतर्विरोध तो नहीं!

पानी जब समुद्र से आता है तब बादल... और जाता है तो नदी कहलाता है। बादल उड़ती नदी है, नदी बहता बादल है। बादल से वर्षा होती है..... वर्षा इस धरती की शालभंजिका है। उसके पादाघात से धरती लहलहा उठती है। और जब वर्षा नहीं होती तब यही काम नदी करती है। वर्षा और नदी, धरती की दो शालभंजिकाएं.... विचार और कर्म (कल्पना और यथार्थ) आत्मा की शालभंजिकाएँ हैं। इनके पदाघात से आत्मा पल्लवित-पुष्पित होती है! बादल धरा पर उतर कर सार्थक होता है। विचार कर्म में परिणित होकर कृतार्थ होता है।

अजीब है यह पानी। इसका अपना कोई रंग नहीं, पर इन्द्रधनुष के समस्त रंगों को धारण कर सकता है। इसका अपना कोई आकार नहीं, पर असंख्य आकार ग्रहण कर सकता है। इसकी कोई आवाज नहीं, पर वाचाल हो उठता है तो इसका भयंकर निनाद दूर-दूर तक गूँज उठता है। गतिहीन है, पर गतिमान होने पर तीव्र वेग धारण करता है और उन्मत्त शक्ति और अपार ऊर्जा का स्रोत बन जाता है। उसके शांत रूप को देखकर हम ध्यानावस्थित हो जाते हैं, तो उग्र रूप को देखकर भयाक्रांत। जीवनदायिनी वर्षा के रूप में वरदान बनकर आता है, तो विनाशकारी बाढ़ का रूप धारण कर जल-तांडव भी रचता है। अजीब है यह पानी!

अमृतलाल वेगड़

नदी का पानी पीते समय उस पानी के साथ हमें ईश्वर की प्रेममय करुणा भी पीने मिलती है। संत ज्ञानेश्वर ने कहा है कि सत्य को पानी की तरह होना चाहिए।

संस्कृति का पालना है नदी

मीठे पानी का श्रेष्ठ और सुदीर्घ स्रोत है नदी। हजारों वर्षों से मनुष्य उसकी ओर खिंचता चला आया है। केवल इसलिए नहीं कि वह हमारी और हमारे खेतों की प्यास बुझाती है, बल्कि इसलिए भी कि है कि हमारी आत्मा को भी लुप्त करती है। उसके तट पर हमारी आत्मा पल्लवित-पुष्पित होती है- संस्कृति का जन्म होता है। संसार की सभी प्रमुख संस्कृतियों का जन्म नदियों की कोख से हुआ है। भारतीय संस्कृति गंगा की देन है। कभी गंगा-यमुना मैदान ही आर्यावर्त था।

वेद संभवतः संसार का प्राचीनतम ग्रंथ है। चारों वेदों में भी सबसे प्राचीन ऋग्वेद है। ऋग्वेद में एक सूक्त है जिसका नाम है, 'विश्वामित्र नदी संवाद।' विश्वामित्र अपने साथियों के साथ नदी को पार करना चाहते हैं, लेकिन नदी में बाढ़ आई है। तब विश्वामित्र नदी से प्रार्थना करते हैं, 'हे माँ! तू मेरे लिए रुक जा और हमें जाने के लिए रास्ता दो।' तब नदी कहती है, 'जिस तरह माँ अपने बच्चे के लिए झुकती है, अथवा कन्या अपने पिता की सेवा के लिए झुकती है, उसी प्रकार मैं तुम्हारे लिए झुकती हूँ।' नदी उतर जाती है और विश्वामित्र और उनके साथी नदी पार कर लेते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि विश्वामित्र नदी से उसी प्रकार बात करते हैं जैसे हम किसी व्यक्ति से बात करते हैं और नदी उसका जवाब भी देती है।

बौद्ध ग्रंथ 'सुत्तनिपात' में धनिय और बुद्ध का मेघ से बड़ा ही रोचक वार्तालाप है-

चाहो तो खूब बरसो!

धनिय- भात मेरा पक चुका, दूध दिया, कुटी छा ली, आग सुलगा ली।

अब हे देव। चाहो तो खूब बरसो।

बुद्ध- मैं किसी का चाकर नहीं, स्वच्छंद सारे संसार में विचरण करता हूँ। मुझे चाकरी से मतलब नहीं। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।

धनिय- मेरे तरुण बैल है और बछड़े हैं। गाभिन गाएँ हैं और कलोर भी है और सबके बीच वृषभराज भी हैं। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो।

बुद्ध- मेरे न तरुण बैल हैं, न बछड़े, न गाभिन गाएँ हैं और न कलोर और सबके बीच वृषभराज भी नहीं है। अब हे देव! चाहो तो खूब बरसो!

(बुद्ध वचन)

तो नदियों और मेघों के साथ प्राचीन काल से ही हमारा ऐसा आत्मीय संबंध रहा है। नदियों को हम परम पवित्र मानते हैं। नदियों के तटों पर ऋषियों के तपोवन होते थे। हमारे अधिकांश तीर्थ या तो पहाड़ों पर हैं या नदियों के किनारे। पर्व-त्यौहार पर नदी-स्नान का विशेष महत्व माना गया है। ग्रहण के अवसर पर तो करोड़ों लोग नदियों में स्नान करते हैं। हमारे देश में नदियों के प्रति विलक्षण श्रद्धा रही है। यह कोई अंधश्रद्धा नहीं, लोकहृदय में प्रतिष्ठित हो चुकी गहन आस्था है। हम तर्कशील भर हों तो नदियाँ बहता हुआ पानी भर हैं। किन्तु हम केवल तर्कशील भर होने से कहीं अधिक हैं। हम मानव हैं और हम में आस्था है, श्रद्धा है, प्रेम है। इसलिए हमने नदियों को केवल बहते हुए जल के रूप में नहीं देखा। उनमें जीवनदायिनी माताओं का प्रतिबिम्ब भी निहारा। नदियों को 'लोकमातरः' लोकमाता कहा। आप माता हैं। वत्सल माता जिस प्रकार बच्चे को स्तनपान कराती है, उसी प्रकार आप हमें अपने शिवतम रस का पान कराएँ। 'शिवतम' यानी अत्यंत शिव, कल्याणकारी। इतनी महिमा बखानी गई है नदियों की। पितामह भीष्म को गंगामैया का पुत्र कहा और नर्मदा को तो परिक्रमा करने की परम्परा चलाई। यमुना के बिना कृषि की कल्पना नहीं की जा सकती।' प्रायः ऐसी ही आस्था प्राचीन मिस्रवासियों की नील नदी के प्रति रही। मिस्र के निवासी नील की अभ्यर्थना करते थे कि वह उनके खेतों से गुजरे और जब नील का पानी उनके खेतों में फैल जाता था तो कहते थे कि नील ने उनकी प्रार्थना सुन ली है और उनके प्राण बचा लिए हैं। उनकी एक प्रार्थना इस प्रकार है-

जय हो, नील तुम्हारी!/तू बहती, जीवन देती / तू रुकती, जीवन-गति रुक जाती / जब तू क्रुद्ध, त्राहि-त्राहि मच जाए / राजा-रंक सभी लुट जाएँ / तू उठती, धरती खिल पड़ती / जीवन-लहर उमंगें भरतीं / तू अन्नदायी, धन-धान्यमयी हे / सौंदर्य सभी तेरी रचना/हर्ष विभोर बच्चे हम तेरे / तब महिमा गाएँ, राजा तू जैसे।

वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि लोगों के दिलों में रहने वाले सत्य और नीति की परीक्षा लेने वाला भगवान पानी में रहता है। हाथ में जल लेकर सौगंध खाने की परम्परा है। इसका अर्थ यह है कि अंजुलि में जल लेने के बाद मनुष्य झूठ बोल ही नहीं सकता। मरते हुए मनुष्य के मुँह में गंगाजल देने की परम्परा है। दाह-संस्कार के बाद जो अस्थि और भस्म शेष रह जाते हैं उन्हें पवित्र नदियों में प्रवाहित करते हैं। इतना ही नहीं, मरणोपरांत भी हमें वैतरणी पार करनी होती है। संक्षेप में जीवन में, मरण में और मरणोपरान्त भी आर्यों का जीवन नदियों से जुड़ा हुआ है। भारतीय संस्कृति ने नदियों में ईश्वर की प्रवहमान करुणा के, प्रेमधारा के दर्शन किए।

नदी लगतार आगे बढ़ती रहती है। नदी आगे बढ़ती रहती है, पीछे नया और नया पानी आता रहता है। इसका अर्थ अर्थ यह है कि देते रहो, लुटाते रहो। देते रहोगे तो तुम्हें मलिता रहेगा। तुम्हारा भंडारा खाली नहीं होगा। पानी निम्मगतिक है, हमेशा नीचे की ओर बहता है। वह विनम्र है और गड्डों को भरता चलता है। उसी प्रकार हमें भी गरीबों की ओर बहना चाहिए, उनकी सहायता करनी चाहिए। नदी कहीं से भी क्यों न निकली हो, उसकी गति हमेशा समुद्र तक न पहुँच पाए, बीच रास्ते में खेतों की प्यास बुझाने अथवा वृक्षों को हरा-भरा रखने में समाप्त हो जाए, फिर भी नदी की गति तो हमेशा समुद्र की ओर ही होती है। नदी की अभिलाषा समुद्र से एकाकार होने की होती है। इसी से हमारे ऋषि-मुनियों ने कहा कि नदी जिस प्रकार समुद्र से मिलती है उसी प्रकार जीवात्मा के मन में परमात्मा से मिलने की आकांक्षा रहती

नदी आगे बढ़ती रहती है, पीछे नया और नया पानी आता रहता है। इसका अर्थ अर्थ यह है कि देते रहो, लुटाते रहो। देते रहोगे तो तुम्हें मिलता रहेगा। तुम्हारा भंडारा खाली नहीं होगा।

आदि शंकराचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध 'नर्मदाष्टक' में लिखा है- गतं तदैव मे भयं त्वदंबु वीक्षितं यदा। जब मैंने तुम्हारे (नर्मदा) जल को देखा तो मेरा सारा भय जाता रहा।

है। हमारे जीवन का भी उद्देश्य यही होना चाहिए। नदी किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रकती। वह यह नहीं सोचती कि गाय की प्यास तो बुझाऊँ किन्तु शेर, क्रूर होता है इसलिए उसे पानी पीने न दूँ। इस तरह का कोई भेदभाव वह नहीं बरतती है। वह ईश्वर की करुणा है और ईवर की करुणा सभी को समान रूप से मिलती है।

यह ठीक है कि नदी का गंतव्य समुद्र है लेकिन समुद्र तक जाते-जाते रास्ते में वह अनेकों के पाप धोती जाती है। ऊँचे पर्वत-शिखर से उतर कर, धरती को तृप्त करती अपना सर्वस्व लुटाती, निरंतर आगे बढ़ती वह समुद्र से मिली है। जिस दिन यह नदी हमारे भीतर प्रवाहित होगी, हमारा सारा दृष्टिकोण ही बदल जाएगा। हम लेना नहीं, देना चाहेंगे, जीना नहीं, जिलाना चाहेंगे। हमें यथासंभव लोकमंगल के कार्य करते रहना चाहिए। नदी में करुणा, प्रेम, परोपकार, उदारता, शीतलता आदि गुण होते हैं। नदी इन्हीं गुणों को अपनाने के लिए, पुण्य कर्म करने के लिए प्रेरित करती है।

हम कितने ही संतप्त क्यों न हों, नदी में स्नान करते ही तरोताज़ा हो जाते हैं, शांति और प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। प्राचीन ग्रंथों में इस आशय के वाक्य हैं कि नदी के पानी को गंदा करना पाप है।

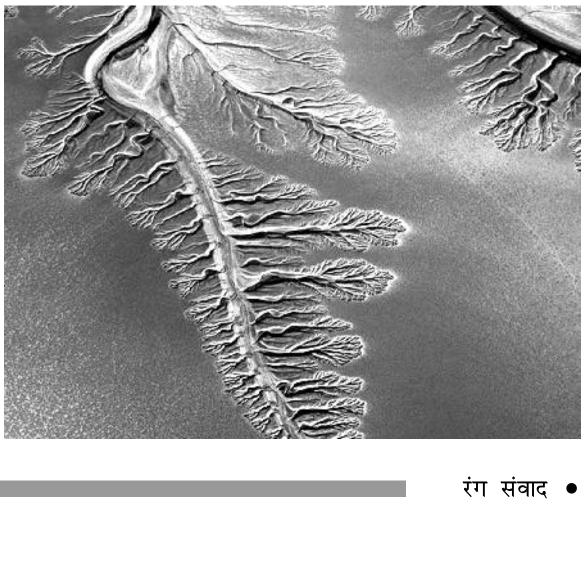

शास्त्रगारों ने जलाशय की पवित्रता के लिए अनेक नियम बनाए थे। नदी-तट निवासियों में एक प्रकार की उदारता और प्रेम दिखाई देता है जिसका मैंने अपनी नर्मदा पदयात्रा के दौरान बार-बार अनुभव किया है। नदी में स्नान करने से तन के साथ मन भी निर्मल होता है। नदी का पानी पीते समय उस पानी के साथ हमें ईश्वर की प्रेममय करुणा भी पीने मिलती है। संत ज्ञानेश्वर ने कहा है कि सत्य को पानी की तरह होना चाहिए। पानी इतना कोमल है कि मनुष्य के सबसे नाजुक अंग आँख की पुतली तक को चोट नहीं पहुँचाता, न ही दूसरी ओर अपने सतत् प्रवाह से कड़े से कड़े पत्थर तक को चूर कर देता है। सत्य को भी मृदु, शीतल और आनंददायक होना चाहिए, साथ ही अन्याय का प्रतिकार करते समय प्रचंड और प्रखर होना चाहिए।

एक बार एक ऋषि बीमार पड़े। उन्होंने सोमराज से कहा कि मुझे कोई औषधि दीजिए। सोमराज ने कहा कि पानी में सभी औषधियाँ विद्यमान हैं, अतः पानी का सेवन करो। वेद में पानी को 'विश्वभेषज' कहा गया है, यानी पानी में तमाम औषधियाँ हैं। इस प्रकार हमारे पूर्वजों ने नदियों की ओर पानी की नाना प्रकार से वंदना की है। हमारी संस्कृति नदियों द्वारा पुष्ट हुई है। वैदिक संस्कृति तो नदियों के तट पर ही पल्लवित पुष्पित हुई है। जिस जमीन में केवल वर्षा के जल से खेती होती है, उस जमीन को 'देवमातृक' और जिस जमीन पर वर्षा के अतिरिक्त नदियों के पानी से खेती होती है उसे 'नदी मातृक' कहा गया। पंजाब को 'सप्तसिंधु' कहा गया। उत्तर भारत और दक्षिण भारत को हमारे पूर्वजों ने विन्ध्य अथवा सतपुड़ा से विभाजित नहीं किया। उन्होंने कहा 'गोदावर्याः दक्षिण तीरे' अथवा 'रेवायाः उत्तर तीरे।' राजा का जब राज्याभिषेक होता था, तब चार समुद्र और सात नदियों के जल से राजा का अभिषेक किया जाता था। प्रतिदिन की पूजा में भारतवासी कहता है-

गंगे! च यमुने! चैव गोदावरि! सरस्वति!
नर्मदे! सिंधु! कावेरि! जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरू!

आदि शंकराचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध नर्मदाष्टक में लिखा है- गतं

तदैव मे भयं त्वदंबु वीक्षितं यदा। जब मैंने तुम्हारे जल को देखा तो मेरा सारा भय जाता रहा। नर्मदा की परिक्रमा करने की परम्परा है। नर्मदा को गंगा जैसा ही महत्व दिया गया। गोदावरी को दक्षिण की गंगा कहा गया। इतने विशाल देश को भावनात्मक दृष्टि से एक रखने में नदियों का महत्वपूर्ण योगदान है। जिस युग में हवाई जहाज, रेल या आवागमन के अन्य साधन उपलब्ध नहीं थे। जब एक जगह से दूसरी जगह जाना अत्यंत कठिन कार्य था, तब इतने बड़े भू-भाग में फैले हुए मानव समूह को एकसूत्र में पिरोने को जो भगीरथी पुरुषार्थ हमारे देश में हुआ, उसमें नदियों का योगदान काम नहीं। भारत की एकता और सौहार्द को नदियों ने सींचा है और पाला-पोसा है।

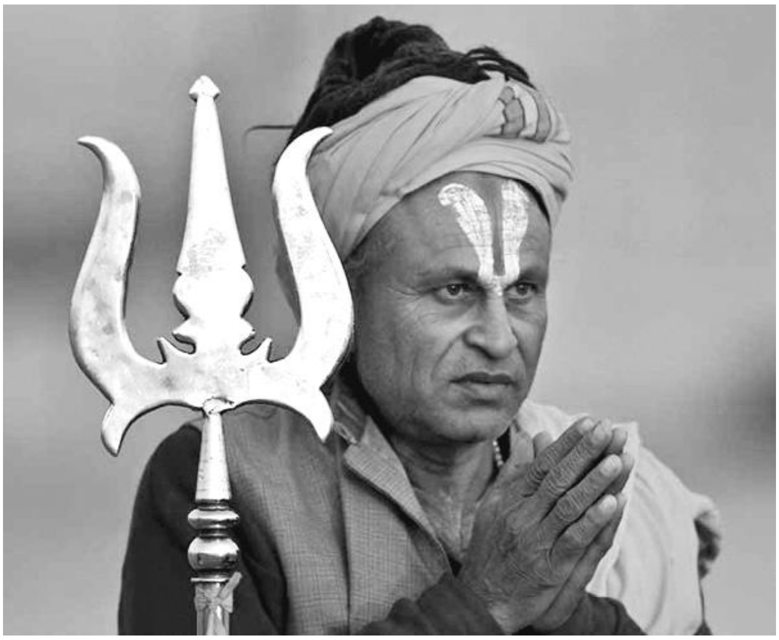

हम कितने ही संतप्त क्यों न हों, नदी में स्नान करते ही तरोताज़ा हो जाते हैं, शांति और प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। जिस दिन यह नदी हमारे भीतर प्रवाहित होगी, हमारा सारा दृष्टिकोण ही बदल जाएगा।

ज्यों-ज्यों मनुष्य प्रकृति को बदलना सीखता गया, त्यों-त्यों संस्कृति की ओर बढ़ता गया। प्रकृति को हम आज भी बदल रहे हैं और अपनी सांस्कृतिक धरोहर में वृद्धि करते जा रहे हैं। किन्तु, संस्कृति का आरंभ कब हुआ?

आज से कोई 15000 वर्ष पूर्व तक मनुष्य प्रायः वनमानुष ही था। वह गुफाओं में रहता था और कंद-मूल खाकर या जानवरों का शिकार करके अपना पेट भरता था। शिकार के पीछे भागता फिरता। शिकार न मिलता तो कंद-मूल से पेट भरता। कुछ न मिलता तो भूखा रहता। इस खतरनाक और अनिश्चय की ज़िंदगी से वह ऊब गया। अंततः उसने वह खोज कर ली कि सभी पेड़-पौधे बीज से उगते हैं और जाने- अनजाने वह उन्हें उगाने के मार्ग पर बढ़ता रहा। धीरे-धीरे, कदम दर कदम, अनेक पीढ़ियों के प्रयत्नों से कृषि की उत्पत्ति हुई।

किन्तु खेती-बाड़ी के लिए पानी चाहिए और पानी होता है नदियों में। इसलिए आदमी गुफाओं से मिलकर नदियों के किनारे आ बसा। अब वह शिकारी से किसान बन गया। आहार की समस्या हल हो गई। अब वह नदियों के किनारे-किनारे चलते हुए देश के बड़े भूभाग पर फैलने लगे। नदी के निकट रहने का एक लाभ और था। खाने के लिए मछली भी थी। मछली बारहों माह मिलती थी और उसके भंडार असीम थे। अब वह केवल उन्हीं स्थानों तक सीमित नहीं रहा, जहाँ उसे शिकार मिलता था। नदियों के कारण मनुष्य के नवास स्थानों को व्यापक विस्तार मिला। नदियों के कारण वह डाँड़वाली नौकाएँ और पालदार नावें बनाना भी सीख गया। खेती-किसानी का काम साल भर तो चलता नहीं। फसल काट लेने के बाद उसके पास काफी समय बचा रहता। इसका उपयोग वह गाने-बजाने, चित्र बनाने, कहानियाँ गढ़ने या गीत लिखने में करने लगा। लीजिए, संस्कृति का शुभारंभ हो गया।

संक्षेप में, एग्रिकल्चर आया तो उसके साथ कल्चर आया। इसने सृजन की उष्मा जगाई। जिस प्रकार किसान हल जोतता है, उसी प्रकार मनीषी अपना हृदय जोतता है और सृजन की फसल गाता है। यही कारण है कि संसार की सभी प्रमुख संस्कृतियों का जन्म नदियों की कोख से हुआ है। मनुष्य प्रकृति से संस्कृति की ओर बढ़ा। हम लोगों की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं- रोटी, नींद और अपना वंश जारी रखना। ये आवश्यकताएँ पशुओं की भी हैं। किन्तु मनुष्य जब इन अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, तो उसमें कई विशिष्टताएं होती हैं जैसे, भूख तो भूख है। लेकिन पत्तल या दोनों में खाना उस खाने से बिल्कुल अलग है जो नाखूनों और दाँतों से खाया जाता है उसी प्रकार छीनकर खाना उस खाने से भिन्न है। जो मिल-बाँटकर खाया जाता है। छीनकर खाना प्रकृति है, मिल बाँटकर खाना संस्कृति है।

संस्कृति सभ्यता को अपेक्षा महीन चीज है। सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है, संस्कृति वह गुण है जो हमारे भीतर है। मानव ने इस संसार को अपने रहने लायक बनाया है, यह सभ्यता है। मानव ने इस संसार को दूसरों के रहने लायक भी बनाया, यह संस्कृति है। हर सुसभ्य आदमी सुसंस्कृत ही होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अच्छी पोशाक पहनने वाला साफ-सुथरा आदमी जहरीला साँप हो सकता है। आदिवासी पूरी तरह से सभ्य नहीं कहे जा सकते लेकिन प्रेम, दया, सच्चाई और सदाचार उनमें कम नहीं होता। एक आदिवासी ने किसी शहराती से ठीक ही कहा था- अपनी सभ्यता तो हमें दो लेकिन हमारी संस्कृति पर दया करो। हमें सुसंस्कृत बने रहने के लिए बीच-बीच में आदिवासियों के पास जाते रहना चाहिए। जब मनुष्य के पास स्वयं के अतिरिक्त पशुओं को खिलाने लायक आहार हो गया, तो उसने

पशुपालन भी शुरू कर दिया। वह कृषक पहले बना, पशुपालक बाद में। हमारे देश में जो स्थान गंगा का है, मिस्र में वही स्थान नील नदी का है। रेगिस्तान में से बहती नील नदी के तट पर ही मिस्र की संस्कृति और सभ्यता विकसित हुई। जब दजला-फरात अथवा हुवांग के किनारों पर सभ्यता की मात्र हलचल थी, तब नील की सभ्यता अपने सर्वोच्च विकास को पहुँच चुकी थी। मिस्र के विनिमय व्यापार की वृद्धि में नील नदी बड़ी सहायक सिद्ध हुई। उसमें नावें बारहों माह चल सकती थीं और उनसे अनाज, लकड़ी तथा अन्य चीजें दूर-दूर तक पहुँचाई जा सकती थीं। नील नदी के तट पर नगर स्थापित हुए। नील के ही कारण जो मिस्र पहले मनुष्य के रहने के लिए बहुत कम उपयुक्त था, वह घनी आबादी वाला कृषि प्रधान देश बन गया।

नहरें खोदने और खेतों को टुकड़ों में बाँटने के लिए भूमि और कोणों को मापना पड़ता था। इस काम के लिए मिस्रवासियों ने रेखागणित का विकास किया ताकि उपजाऊ खेतों की सीमा निर्धारित की जा सके और नील के अनमोल पानी को सँजोकर रखने के लिए तथा खेतों तक पहुँचाने के लिए नहरें बनाई जा सकें। कृषि के लिए मौसम विज्ञान की जरूरत महसूस की गई जो यह बता सके कि कब वर्षा होगी और कब नदी में बाढ़ आएगी। कैलेण्डर में पंचांग का जन्म हुआ। मिस्रवासियों ने 265 दिन के कैलेण्डर का आविष्कार किया ताकि नील की बाढ़ के महीनों का पूर्व अनुमान लगाया जा सके। बाढ़ के पहले आकाश में नक्षत्र हर साल एक निश्चित स्थिति में होते हैं। इन पर्यवेक्षणों से खगोल विज्ञान की नींव पड़ी। मिस्रवासियों ने नक्षत्रों से युक्त आकाश का मानचित्र भी बना लिया। ईसा के जन्म के 3000 वर्ष पूर्व यहाँ के लोगों ने कागज बना लिया था और चित्रलिपि भी विकसित कर ली थी।अंकगणित और ज्योतिष के आधारभूत नियम खोज निकाले थे। आकाश छूते पिरामिडों में रेखागणित अपनी पूरी शुद्धता के साथ प्रकट हुआ है। मिस्रवासियों ने खेती बारी को एक विज्ञान बना डाला था।

पुनः भारत की ओर लौटें। हमारे देश में अत्यंत समृद्ध सिंधु घाटी सभ्यता विकसित हो चुकी थी और पाँच हजार वर्ष पूर्व। पहली सहस्राब्दी के मध्य में भारत में नगरों का तेजी से विकास होने लगा था। सबसे बड़ा नगर पाटलिपुत्र था जो गंगा तट पर था। वाराणसी गंगा तट पर, प्रयास गंगा-यमुना के संगम पर, भृगुकच्छ नर्मदा-तट पर और उज्जयिनी क्षिप्रा तट पर स्थित थे। आज भी संसार के बड़े शहर नदियों के तटों पर ही स्थित हैं। ऐसे समाज को जिसमें कृषि का विकास हो चुका हो, नगर बन गए हों और लिपि विकसित हो चुकी हों, इतिहासकार सभ्यता कहते हैं। पहली सभ्यताएँ उष्ण कटिबंध में स्थापित हुई। उष्ण कटिबंध में जमीन जोतना अपेक्षाकृत आसान होता है- पत्थर और लकड़ी के सादे औजारों से ही खेत जोते जा सकते हैं, धातु के औजार होना जरूरी नहीं।

मानव जाति के जीवन के प्रथम चरण में, जिसे हम प्राचीन युग कहते हैं, विकास कठिन पथ तय किया। अपने अथक परिश्रम से आदिम मानव न केवल प्रकृति के साथ संघर्ष में टिका रह सका, बल्कि विकास करता गया और सभ्यता और संस्कृति की नींव भी डाल सके। इस कार्य में उसे नदियों से भारी सहायता मिली। नदियों के कारण कृषि संभव हो सकी। कृषि के कारण लोगों के लिए अपना पर्याप्त समय ज्ञान-विज्ञान और कलाओं के विकास को दे पाना संभव हुआ। नदियाँ सभ्यता और संस्कृति का पालना बनीं।

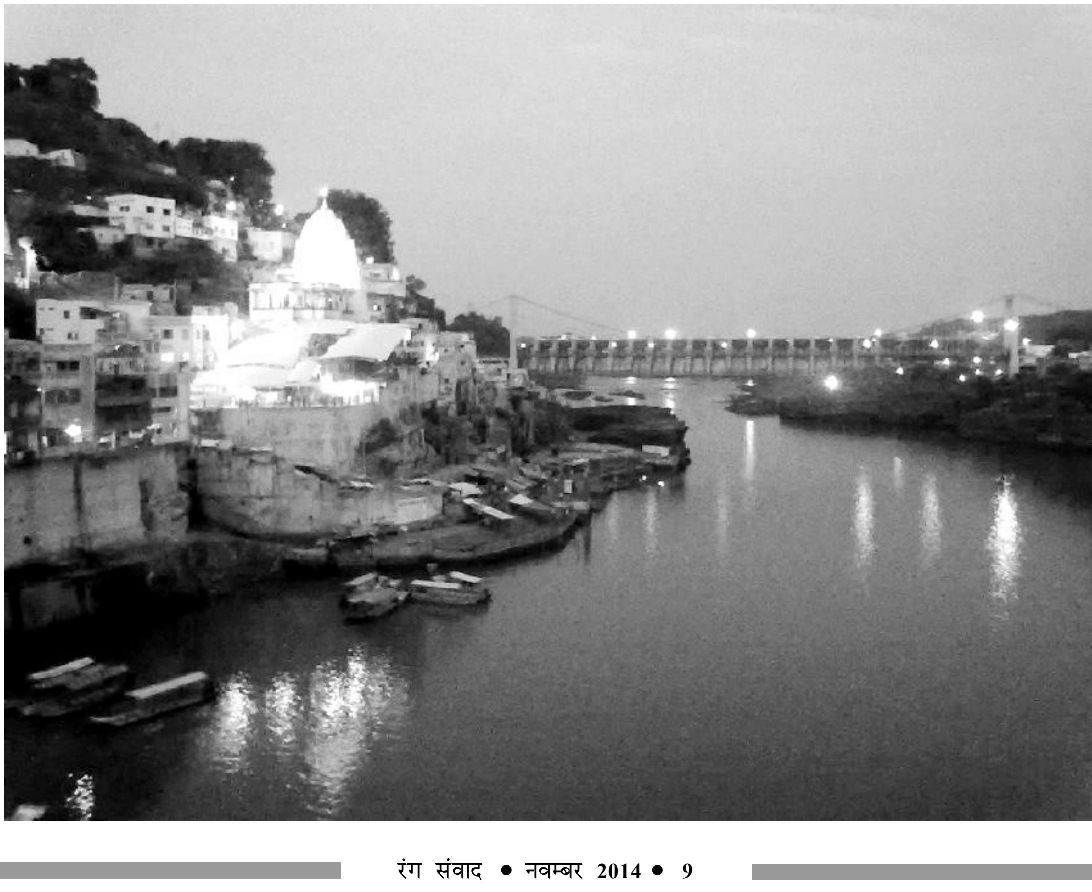

जब कोई कला चली आती रूढ़ियों से निकलकर स्वतंत्र साधना का विषय बनती है तो उसकी भिन्न सम्भावनायें आगे आती हैं, समुदाय, सम्प्रदाय और फिर इनकी परम्परायें उभरती हैं जो भिन्न प्रवृत्तियों को पालते हुए कला को अपनी दृष्टि से प्रगल्भ, विदग्ध रूप देती है, उसके रूपों की, व्यंजना की समृद्धि साधती है।

कला में अमूर्त

मुकुन्द लाठ

आरम्भ करते हुए कला का अर्थ 'चित्र' लूँगा। अँग्रेज़ी के चलते हिन्दी में भी 'कला अर्थात् चित्र' या रूढ़ि सामान्य हो चली है। अँग्रेजी की ही चाल पर हिन्दी में भी 'अमूर्त' शब्द चित्र के साथ बँधा-सा है। पर 'अमूर्त' आया चित्र के सन्दर्भ में हो, उसका अर्थ व्यापक है। मूर्तिकला या भास्कर्य में भी अमूर्त की बात साधारण है। अमूर्त, अँग्रेजी के 'ऐब्सट्रैक्ट' और 'नॉन-फिगरेटिव' का अनुवाद है। इन शब्दों की ध्वनि या इनका तात्पर्य कला में एक विशेष प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है, जिसे कला विशेष से बाँधा नहीं जा सकता है। आगे के विचार में अमूर्त की धारणओं में उतरने के लिए- विशेषकर उस पर भारतीय चिन्तन को समझने के लिए चित्र से हटकर अन्य कलाओं पर जाऊँगा। सच पूछिये तो कला में अमूर्त की धारणा का संकेत कला को अनुकरण के चलते-आये मार्ग से हटा कर कला की अपनी स्वतंत्र रूप और भाव साधना की प्रवृत्ति की ओर है। पश्चिम में इस प्रवृत्ति को कला के इतिहास में एक अपूर्व क्रान्ति के रूप में भी देखा गया है। कहा गया है कि यह कला के प्रति एक सर्वथा नयी दृष्टि है- जो अपने आत्मचेतन उन्मेष में सभ्यता मात्र के लिए नयी है। मेरे इस छोटे-से लेख का उद्देश्य इस बात को उभारना है कि भारत में भी कला के प्रति यह दृष्टि रही है- और बड़े सुचिन्तित आत्मबोध के साथ रही है। पर हम उसकी चर्चा नहीं करते। इसीलिए यहाँ चर्चा उठा रहा हूँ।

अर्थ में थोड़ा उतरकर देखें तो साफ ही अँग्रेजी के ऐब्सट्रैक्ट और नॉन-फिगरेटिव, ये शब्द दो भिन्न अभिप्राय रखते दिखते हैं। हिन्दी का अमूर्त दोनों का अकेला अनुवाद है- साधारण प्रयोग में दोनों की ओर संकेत करता है, दोनों के अर्थ एक में मिला-सा भी देता है। हम कह भी

सकते हैं कि एक इंगित है जो दोनों में समान है- प्रकृति या मानव-जगत में उपलब्ध आकृतियों के रूपायण से हटने की चेष्टा-दूसरे शब्दों में कला के उद्देश्य को 'अनुकरण' की दिशा से अलग ले जाना-ऐसी आकृतियाँ बनाना जो कला-बोध की अपनी कल्पना से उदित हों। 'नॉन-फिगरेटिव' और 'ऐब्सट्रैक्ट' के भिन्न अर्थों को देखें तो इस प्रवृत्ति के लिए 'नॉन-फिगरेटिव' अधिक उपयुक्त जान पड़ता है- अगर फिगर का अर्थ ऐसी आकृतियों से लें जो बाहर लोक में नहीं पायी जाती हैं। फिगर शब्द का यह अर्थ ठीक बनता नहीं है क्योंकि फिगर रूप मात्र के लिए प्रयुक्त हो सकता है पर यही रूढ़ हो गया है- 'अमूर्त' इसी से आया लगता है। हम आगे देखेंगे कि यहाँ जो पुराना भारतीय शब्द है, वह और अधिक अर्थानुकूल है- कला का 'स्वप्रतिष्ठ' होना।

चित्र को लें तो चित्र में की गयी अनुकृति को 'चित्र-धर्मी' कह सकते हैं। जिस त्रि-आयामी परिप्रेक्ष्य में हम लोगों को, वस्तुओं को, बाहर देखते हैं, उसकी हू-ब-हू नकल चित्र के सपाट दो आयामों में सम्भव नहीं है और न वांछित है- क्योंकि फिर चित्र की अपनी सत्ता ही क्या होगी? कहना न होगा कि चित्र हो- या दूसरी कला- कला का काम अनुकरण मात्र नहीं होता। कला संवेदना की साधना होती है, नकल उतारने की नहीं, और संवेदना वस्तु को, उसके रूप को, अपनी स्वतंत्र व्यंजना के लिये संकेत बनाती है। वस्तु को उसके उपलब्ध रूप में यों का यों उतार लेना, कला-साधना की एक विशेष दिशा ही हो सकती है, उसका स्वभाव नहीं। कला के स्वभाव में सादृश्य के यहाँ अवधेय है कि कला का आधार ही संवेदना होती है। आकृतियाँ चाहे वे अनुकरण-मूल हों या अमूर्त, अगर वे किसी संवेदना में व्यंजक न हों तो कला की श्रेणी में नहीं आ सकतीं। अनुकरण या अमूर्तन कला में ही नहीं होता, उसके सर्वथा भिन्न प्रयोजन भी होते ही हैं : किसी भू-भाग का नक्शा या भगोड़े को पहचानने के लिए बनायी गयी तस्वीर अनुकृति होती है। साथ किसी और मर्म की भी खोज होती है- सादृश्य के रास्ते सादृश्य-भिन्न गुणों को सहेज लेना चाहती है कला। यह बात सहज-स्वीकार्य है। नयी भी नहीं है। प्रसिद्ध प्राचीन कारिका में चित्र के छह अंगों की बात की गयी है-

रूपभेदा : प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभङ्ग इति चित्रं षडङ्गकम्।।

(रूपों के भेद, उनके भिन्न प्रमाण, भाव और लावण्य का संयोजन,
सादृश्य और वर्णिकाभङ्ग चित्र के ये छह अंग होते हैं)

चित्र के चित्र होने के लिए ये छहों अंग होने चाहिए। सादृश्य यहाँ और अंगों एक ही अंग है। सादृश्य के साथ भाव और लावण्य भी उतने ही प्रधान हैं। हम चित्र की इस परिभाषा को न मान कर दूसरे चित्र-लक्षण बना सकते हैं। फिर भी 'भाव' को कैसे हटा देंगे- चाहे 'लावण्य' को आवश्यक न भी मानें। और चाहिये भाव को भी हटा दें तो कुछ तो ऐसा समोयेंगे जो केवल सादृश्य में न समाये-चाहे उस 'कुछ' की परिभाषा सहज न हो। चित्र का मर्म-चित्र की आत्मा-सादृश्य की परिधि में नहीं घिर सकती।

फिर भी कहा जा सकता है कि सादृश्य-साधना (उपलब्ध रूपों को तद-रूपता के सा उतार लेना) यह चित्रकर्म में सदा, और सब जगह, चित्रकर्म की एक आधारभूत साधना रही है- अन्ध गुण सादृश्य को ही आधार बनाकर गुण की कोटि में आते हैं। ऊपर की कारिका में भी देखा जा सकता है कि रूपभेद (भिन्न वस्तुओं के, भिन्न गुणों के भिन्न रूप) और प्रमाण (उनका नाप-जोख), ये सादृश्य के ही प्रसंग में सार्थक हैं- अन्यथा इनकी बात निराधार रह जाती है। भाव और लावण्य के साथ जो 'योजनम्' शब्द आया है, वह भी यह इंगित करता है कि भाव और लावण्य कहीं 'जोड़े' जाते हैं- उस आकृति पर ही जोड़ने की बात हो सकती है जो सादृश्य के आधार पर सही रूप, सही प्रमाण रखते हुए बनी हो। वर्णिकाभङ्ग (रंगों का अलग-अलग भराव), यह भी सादृश्य को ही कसौटी रखता जान पड़ता है- तात्पर्य यह उभारता है कि जैसा वस्तु का सादृश्य आँका गया है, वैसा रंग भरा जाये। पर जो भी हो, यह कारिका कुछ भी कह रही हो- इसे और तरह से भी समझा ही जा सकता है; समझा गया भी है (अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की ही भारतशिल्पेर षढङ्ग पुस्तिका देखिये)- पते की बात यहाँ यह है कि चित्र में सादृश्य एक बड़ा, अनन्य उद्देश्य रहा है। हाँ, कहना न होगा कि सादृश्य की साधना सादृश्य-भिन्न गुणों-या अंगों को स्वीकारती समोती हुई ही रही है। यह स्वाभाविक भी है।

सादृश्य के प्रकार, शैलियाँ भी भिन्न रही हैं। सादृश्य का अर्थ यह रहा है कि वस्तु भाव-रंजित होती हुई भी पहचान में आ जाये। यों का यों सादृश्य कम साधा गया है। पुराने भारतीय चित्रों को, या

ऐब्सट्रैक्ट होना कला का स्वभाव

जिसे 'ऐब्सट्रैक्ट' कहते हैं उसमें अनुकरण का अभिप्राय फिर भी बना रहता है। ऐब्सट्रैक्ट कृति बनाते हुए कलाकार लोक में उपलब्ध आकृतियों को नकारता नहीं है, उन्हें अपनी तरह से रूप देता है। कह सकते हैं कि कलाकार यहाँ सादृश्य की साक्षात साधना से हटकर उपलब्ध का अपने माध्यम से सम्भावनाओं में 'उद्ग्रहण' (ऐब्सट्रैक्शन) करता है। इसे उपलब्ध का कला-कृत रूपान्तर भी कह सकते हैं। कला के अनुकरण में उपलब्ध का उद्गृहीत होना या रूपान्तरित होना कोई नयी बात नहीं है, बल्कि कला का ऐब्सट्रैक्ट होना उसका स्वभाव ही है। कोई भी कला जब बाहर की लोक की प्रस्तुति करती है, उसे हू-ब-हू नहीं उतारती और न उतार सकती है। कला द्वारा किया गया अनुकरण कला के माध्यम के अनुरूप ही हो सकता है। बात नयी नहीं है। नाटक स्पष्ट ही लोक का अनुकरण करता है। भारत ने नाटक को परिभाषि ही 'अनुकरण' शब्द द्वारा किया गया है। पर साथ ही भरत ने इस बात पर भी जोर दिया है कि नाटक का अनुकरण माध्यम की अपनी सम्भावनाओं के अनुरूप ही होता है- 'नाट्य-धर्मी' होता है।

चीनी चित्रों को, देखें तो बात झलक आती है। पुराने योरोपीय चित्रों में भी ऐसी ही सादृश्य साधना है। पर पश्चिम में रिनेसाँ काल के बाद सादृश्य-साधना ने एक नया मोड़ लिया। प्रतिबिम्ब की तरह दृश्य को दृश्य के ही तीन आयामों में उतार लेने की दक्षता साधी। तकनीकी परिष्कार के रास्ते आकृतियों को उनके तीनों आयामों के परिप्रेक्ष्य में उतार लेने का शिल्प विशेष साधन-सम्पन्न हुआ। यह नहीं कि दूसरे गुणों की कदर नहीं हुई, पर इस साधना को ख़ासा माँजा गया।

ऐब्सट्रेक्ट और नॉन-फिगरेटिव की प्रवृत्ति इसी चली-आती साधना को नकारने की, उससे हट जाने की प्रवृत्ति है। जो कला के अपने कर्म को- अपने माध्यम को, अपनी रूप-साधना के स्वातन्त्र्य को महिमा देती है। एक नयी पर उतनी ही जागरूक महिमा देती है। ऐब्सट्रेक्ट में किसी प्रस्तुत आकृति के रूप को चित्र की द्वि-आयामी सपाट जमीन पर त्रि-आयामता का आभास साधे बिना-यों उतारा जाता है कि आकृति का रूप चित्र का अपना रूप, अपनी पहचान हो जाये। ऐसा रूप बने जो चित्र-धर्मी हो, दृश्य-धर्मी नहीं। तभी साधारण परिप्रेक्ष्य को बिल्कुल छोड़ते हुए स्त्री-पुरुषों के या अन्य वस्तुओं के ऐसे चित्र गत 'रूपान्तर' बने जहाँ दृश्य आकृति का आगे का भाग और पीछे का भाग-या किनारे का भाग-एक ही सपाट दो-आयाम रखती जमीन पर साथ-साथ सँजो दिये जाते हैं; या किसी दृश्य को ज्यामितिक रेखाओं में ढाल दिया जाता है। देखने वाले को सादृश्य बोध नहीं होता, कुछ पहचान में नहीं आता, पर है यह भी एक प्रकार की सादृश्य साधना ही, जहाँ प्रतिकृति वस्तु के प्रतीत होते आभास को अपनी तरह से उद्‌गृहीत करती है। चित्रकार जान-बूझकर चित्र के अपने माध्यम को प्रधान बनाता हुआ, दृश्य रूप को अन्यथा कर देता है। प्रतिबिम्ब जैसा कुछ साधना ही नहीं चाहता। माध्यम की अपनी पकड़ को आगे रखता हुआ, पुरानी प्रतिबिम्बवत् साधना की अवहेलना कर एक नया चित्र-धर्मी रास्ता अपनाता है। बाहर के रूप को चित्र के भीतर की वस्तु बना लेना चाहता है- बाहर का ऐसा रूपान्तर करते हुए जो चित्र ही कर सकता है।

इस प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए 'अमूर्त' तात्पर्य यह बनता है कि जैसी आकृतियों का चलन था वैसी आकृतियों से हटकर आकृति-साधना को नया मोड़ दे देना यों देखें तो ऐब्सट्रैक्ट और नॉन-फिगरेटिव दोनों का अर्थ 'अमूर्त' में आ जाता है। पर शब्द के सीधे अर्थ को-अभिधा को-ध्यान में रखें तो नॉन-फिगरेटिव और उसके साथ ही 'अमूर्त' भी चित्र के सन्दर्भ में अनुपयुक्त ही नहीं, भ्रान्त कहलायेगा। मूर्ति या आकृति ऐसे रूप को कहा जाता है जो इन्द्रिय-गम्य

चित्र, अमूर्त को सार्थक मूर्त रूप देने की साधना है

अमूर्त की बात हमें अटपटी लगती है। उसे 'पकड़ें' कैसे, समझ में नहीं आता। लेकिन अपने अनुभव की ओर ही देखें। हमारे अनुभव में अमूर्त का क्षेत्र विशाल है। भावनायें, सुख, दुख, राग, द्वेष, आशा, आकांक्षा, प्रेम, राग, विराग ये सब अमूर्त होते हैं, इन्द्रियों की पकड़ के बाहर। भावनायें ही नहीं, मन का, बुद्धि का, सारा अन्तरंग व्यापार-ज्ञान, विचार, कल्पना, ये सब अमूर्त होते हैं। लेकिन इस अर्थ में चित्र अमूर्त नहीं होता, न चित्र में आँकी गयी आकृति अमूर्त होती है। चित्र साधना मूर्त की ही साधना है। चित्र की ही नहीं कला-मात्र की साधना मूर्त की साधना है। बल्कि देखने की बात यह है कि कला की साधना मूर्त की ही साधना नहीं, एक गहरे अर्थ में अमूर्त को सार्थक मूर्त रूप देने की साधना है। कला हमारे अमूर्त अन्तर्जगत को बाहर सार्थक मूर्त रूप देती है- अपनी रचित 'मूर्तियों' में अन्तर्जगत के अमूर्त अनुभव को व्यंजित करती है। कहना न होगा कि कला में अमूर्त की बात हम करते हैं तो अमूर्त शब्द का तात्पर्य शब्द के शब्दार्थ में नहीं होता। अर्थ होता है, सादृश्य को भूलकर स्वतंत्र मूर्ति-साधना।

हो। चित्र कभी अमूर्त मूर्ति-हीन, आकृतिहीन-नहीं होता। उलटे चित्र की साधना ही आकृति की साधना है। अरूप की नहीं। चित्र बड़े ठोस रूप में मूर्त होता है- उसका माध्यम भी मूर्त होता है। उसका पटल भी; उस पर जो कुछ बनाया जाता है, वह तो मूर्त होता है। सीधे शाब्दिक अर्थ में चित्र के साथ अमूर्त की बात स्वतःविरोध ही खड़ा करती है।

नाटक में संगीत 'अनुकरण' का लक्ष्य तब सध सकता है जब गायन में शब्द प्रधान हों, स्वर नहीं। भरत मुनि जब संगीत की और उसके शास्त्र की बात करते हैं तो उसमें शब्दों का स्थान नहीं के बराबर था। निरर्थक वर्णों का गान होता था, जैसे आज भी आलाप के नोम-तोम में।

सच पूछें तो माध्यम की दृष्टि से एक ही कला अमूर्त होती है- काव्य या साहित्य। काव्य का माध्यम, शब्द, अर्थ के बिना नहीं बनता और अर्थ, इन्द्रिय-गम्य नहीं बुद्धिगम्य ही होते हैं, क्योंकि अर्थ में सामान्य का समावेश होता है। सामान्य विशुद्ध बुद्धि का ही विषय हो सकता है। तभी दृष्टान्त है कि 'रोटी' के अर्थ को न देखा जा सकता है, न छुआ जा सकता है- खा सकने की तो बात ही क्या। 'रोटी' शब्द किसी खास रोटी के लिए होता ही नहीं। प्रचलित प्रयोग- और विचार की विडम्बना है कि अमूर्त शब्द का चलन साहित्य के क्षेत्र में नहीं, ऐसी कलाओं के क्षेत्र में फैला है, जो स्वभाव से ही मूर्त होती है।

कला भीतर को बाहर दिखलाना चाहती है

हमारे अन्तर के व्यापार-ज्ञान, विचार, भावना, इच्छा... ये मूल रूप से ही अमूर्त होते हैं क्योंकि बाहर के जगत की तरह हम इन्हें इन्द्रियों से नहीं जानते। पर इनकी 'मूर्तियों' की रूप की, आकृतियों की हम बात कर सकते हैं, बात करते ही हैं। पर बात करते हैं तो 'मूर्त' का अर्थ ही और होता है। मूर्त शब्द का प्रयोग वहाँ ऐसे रूप के लिए होता है जो सूक्ष्म होता है, बुद्धिगम्य होता है- बाहर के रूपों की तरह इन्द्रियों की पहुँच में नहीं होता। भीतर के रूपों का जैसे इच्छाओं के 'रूपों' को, विचार के भिन्न सिद्धान्तों के भिन्न 'रूपों' को हम किस अर्थ में 'रूप' कह सकते हैं, यह अपने-आप में विचार का विषय है। पर इस अर्थ को हम जैसे भी आँकें-परखें इसका कला के अमूर्त से सम्बन्ध नहीं। कला तो भीतर को बाहर ही दिखलाना चाहती है।

अमूर्त की बात और भी गहराई में उतरकर की जा सकती है। जैसे अध्यात्म में। वहाँ अमूर्त की साधना की बात की जा सकती है। अध्यात्म का अनुभव वह है जो विचार में नहीं आता है निर्विकल्प कहलाता है कहने-सुनने से भी परे। 'अ-रूप' या अ-मूर्त की सचमुच बात करें तो बात इसी क्षेत्र में सार्थक बनती दिखती है पर कला तो अध्यात्म को भी मूर्त रूप देने की ही साधना करती है। बुद्ध की मूर्ति देखिये।

तो कला में अमूर्त की बात कला की स्वतंत्र रूप 'मूर्ति-साधना की ही बात हो सकती है। ऐसी मूर्ति-साधना जो सादृश्य को प्रतिमान नहीं करती। जैसे सादृश्यमय आकृतियों को साधना की कला में प्रथा थी, उस प्रथा के बन्धन को नकारना, यही यहाँ अमूर्त का तात्पर्य है। कला में अमूर्त की बात करते हुए तभी साथ यह भी कहा जाता है कि अमूर्त का सम्बन्ध एक बिल्कुल नयी कला-चेतना से है- मूर्ति के बन्धन से मुक्त एक ऐसी कला-चेतना से जो पुराने से उठकर एक नये उर्ध्वधर धरातल पर आ गयी है। अपने स्वरूप में स्थित हो गयी है। इसलिए कलाकार के दायित्व की सी भी बात हो गयी है अमूर्तता। कलाकार को चाहिए कि रूप की स्वतंत्र साधना करे।

एक तरह की अमूर्तता-सादृश्य से हटकर स्वतंत्र आकृति साधना-कला में सदा सर्वदा रही है : डिजाइन बनाना जैसी अल्पना में, माँडना में बनती है, या कालीनों पर, मकबरों पर। इनमें सादृश्य की कोई बात नहीं होती; विशुद्ध आकृतियों की लय या छन्द होता है। पर इसे हम अमूर्त का गौरव नहीं देना चाहते (हालाँकि होता 'अमूर्त' ही है) - कुछ लोग तो इसे शायद कला भी न कहना चाहें, शिल्प (क्राफ्ट) मात्र कहें। ये आकृतियाँ अनुकृति न हों, एक तरह की सपाट अनुवृत्ति में पलती है। सतही होती है। और फिर परम्परा की लीक में, रूढ़ि में बसी होती है; न भी हों तो कला की गम्भीर संवेदना, रूप-साधना, रूप-दृष्टि विरल ही होती है इनमें।

डिजाइन तो बहुत पुरानी, बड़ी आदिम-सी चीज है जबकि कला में आज अमूर्त को अपूर्व क्रान्ति माना जाता है। पश्चिम में आधुनिकता के साथ जागी क्रान्ति। 'आधुनिक' प्रवृत्तियों में कला को अनुकरण की 'दासता' से मुक्त कर दिया। उसे विचार जैसा ऊँचा-उदात्त आसान दिया। कला के स्वतंत्र 'धर्म' का दर्जा दिया। यही आधुनिकता फिर पश्चिम में अन्यत्र फैली है- जैसे भारत में। जीवन के संस्कृति के हर पक्ष में फैली है। कला में भी यह आज का विश्वास है। कला में अमूर्त की बात के संदर्भ में योरप की 'आधुनिकता' का एक आत्ममन्य और विषम पक्ष का यह दावा है कि वही पहल कर रहा है- कला में स्वातन्त्र्य की ही बात नहीं करती, इतिहासबोध की भी बात करती है, अपनी ओर देखते हुए अपने को समझने-परखने की बात करती है।

अपने इतिहास को थोड़ा पैठ कर देखें तो हम पायेंगे कि जिसे हम आज अमूर्त कह रहे हैं, उसकी बात हमारे यहाँ कला-विचार के मानो आरम्भ में ही उठ चुकी है- आज से कम-से-कम 2000 साल

पहले। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र नाटक का ही नहीं, और भी कलाओं का सुचिन्तित शास्त्र प्रस्तुत करता है। चिन्तन की गहराई-और जागरूकता-इस बात में प्रकट है कि भरत तत्कालीन भिन्न कलाओं में एक मूलभूत अन्तर उभारते हैं, जिसे आज की शब्दावली में मूर्त-अमूर्त का अन्तर कह सकते हैं। भरत मुनि नाटक पर लिख रहे थे, और नाटक के मर्म को वे 'अनुकरण' कहते हैं : लोक का, मनुष्य-लोक का अनुकरण। ऊपर चित्र की जिस शब्दावली का हमने प्रयोग किया, उसे लें तो 'अनुकरण' का तात्पर्य वही है जो 'सादृश्य' का। पश्चिम के कला-चिन्तन पर अरस्तु का अगाध प्रभाव रहा है। कला में अमूर्त को जब क्रान्ति कहा जाता है तब अरस्तू के ही 'पारम्परिक' कला-बोध के प्रति 'आधुनिक' प्रतिक्रिया जताई जाती है। पर भरत में और उसके बाद के भारतीय कला-चिन्तन में अमूर्त से परिचय पुराना है।

नाटक में संगीत और नृत्य का अनुकरण

भरत के नाटक में संगीत और नृत्य का बड़ा स्थान था। भरत के पारम्परिक नाटकों में भरत के बाद भी रहा ही है। भरत जब नाटक पर लिख रहे थे, संगीत और नृत्य के शास्त्र पहले ही लिखे जा चुके थे। संगीत और नृत्य की शिष्ट, विदग्ध परम्परायें उनके समय तक विकसित हो चुकी थीं और उनके सम्मुख थीं। संगीत और नृत्य का नाटक में समावेश करने के लइए भरत नाट्यशास्त्र में इन कलाओं का भी सांगोपांग वर्णन करते हैं, जो इनके प्राचीन शास्त्रों के आधार पर है। नृत्य के रूप में उन्होंने ताण्डव का वर्णन किया है जो कि नृत्य की विशुद्ध विधा थी और नृत्त भी कहलाती थी। नृत्त स्वतंत्र रूप-साधना की विधा थी, अनुकरण की नहीं। संगीत की जिस विधा का भरत ने वर्णन किया है वह भी नृत्त के समतुल्य संगीत की विशुद्ध विधा थी। नाम था गान्धर्व। ये विधायें 500 से 300 ईस्वी-पूर्व में पनपी, परवान चढ़ी, जान पड़ती हैं। इनके प्रौढ़ व्यवस्थित शास्त्र भी रचित हो चुके थे जिनके आधार पर भरत ने इनका वर्णन किया है। अपने नाटक में भरत ने संगीत और नृत्य की इन्हीं विधाओं का प्रयोग साधा है। पर उनके सामने एक समस्या थी जिससे वे अवगत भी थे- संगीत और नृत्य की ये विधायें नृत्त और संगीत की विशुद्ध-दूसरे शब्दों में अमूर्त-विधायें थीं। पर नाटक का काम तो अनुकरण होता है- सादृश्य-साधना। इन विधाओं का कोई स्थान नहीं था। भरत के लिए प्रश्न था इनका नाटक में कैसे समावेश हो।

नाटक में संगीत 'अनुकरण' का लक्ष्य तब साध सकता है जब गाये-जाते शब्द प्रधान हों, स्वर नहीं। भरत संगीत की और उसके शास्त्र की बात करते हैं, उसमें शब्दों का स्थान नहीं के बराबर था- निरर्थक वर्णों का गान होता था, जैसे आज भी आलाप के नोम-तोम में। नृत्य में अनुकरण, अभिनय के माध्यम से आता है। भरत जिस नृत्य से परिचित थे, उसमें अभिनय का कोई स्थान नहीं था। तभी भरत उसे 'नृत्त' कहते हैं। नृत्त की महिमा बहुत थी- स्वयं शिव को उसका स्रष्टा और नर्तक-कहा गया है। पर वह शरीर के अंग-चालन की-अंगहारों की स्वतंत्र रूप-साधना थी। अमूर्त।

भरत जानते थे। यह जानते हुए भी कि संगीत और नृत्त के जिन रूपों को वे काम में लेना चाहते हैं वे नाटक की प्रकृति के प्रतिकूल है, वे इन रूपों को अपने नाटक में समो लेना चाहते थे। नाटक में उन्हें यों आत्मसात् कर लेना चाहते थे कि नाटक से अभिन्न हो जायें, नाटक से उनका तादात्म्य बने, नाटक की प्रकृति में घुल-मिलकर वे नाटक के अंग हो जायें।

भरत अपने साधना के वैषम्य पर विचार भी करते हैं। उनके यहाँ कलाओं में एक मूलभूत कोटि-भेद उभरता है- नाटक जो अनुकरण करता है, और वे कलायें जिनके रूप में अनुकरण का आशय ही नहीं-अपनी स्वतंत्र आकृति साधना और अनुकरण- मुक्त रूप-निर्मिति का ही जहाँ स्वराज्य है। भरत सा तौर से प्रश्न उभारते हैं कि क्या संगीत, वृत्त की विशुद्ध आकृतियों को अनुकरण-प्रधान बनाया भी जा सकता है? भरत का 'उत्तर', जो उन्होंने करके दिया है, कह के नहीं- यह था कि किसी भी कला की आकृति साधना की दिशा मोड़ी जा सकती है- रूपान्तर के साथ उसके स्वातन्त्र्य कैसे किया जाये? ऐब्सट्रैक्ट और नॉन- फिगरेटिव की प्रवृत्ति के पीछे यही प्रश्न उठा है- निहित है।

भरत अपने प्रश्न को उभारकर स्पष्ट उठाते हैं। पूछते हैं- ऐसी कला जो अपने बाहर किसी अर्थ का

भरत अपने प्रश्न को उभारकर स्पष्ट उठाते हैं। पूछते हैं- ऐसी कला जो अपने बाहर किसी अर्थ का प्रकाश नहीं करती, वह नाटक में कैसे समा सकती है?- नाटक का तो काम ही अपने से बाहर अर्थ को प्रकाशित करना है। नाटक स्वरूप से ही अनुकरण की कला है। फिगरेटिव। उसमें नॉन-फिगरेटिव को उसके साथ एकरस करते हुए कैसे समोया जाये? यह समस्या थी भरत की। समस्या को ध्यान में रखते हुए भरत के ग्रन्थ को देखें तो पायेंगे कि पूरा नाट्यशास्त्र इस प्रश्न के समाधान की प्रक्रिया है।

प्रकाश नहीं करती, वह नाटक में कैसे समा सकती है?- नाटक का तो काम ही अपने से बाहर अर्थ को प्रकाशित करना है। नाटक स्वरूप से ही अनुकरण की कला है। फिगरेटिव। उसमें नॉन-फिगरेटिव को उसके साथ एकरस करते हुए कैसे समोया जाये? यह समस्या थी भरत की। समस्या को ध्यान में रखते हुए भरत के ग्रन्थ को देखें तो पायेंगे कि पूरा नाट्यशास्त्र इस प्रश्न के समाधान की प्रक्रिया है। विशुद्ध संगीत, नृत्त के रूपों का रूपान्तर करते हुए उन्हें कैसे नाटक-सम्मत-नाटक का 'उपरंजक' बनाया जाये- इस उद्देश्य की शास्त्र और प्रयोग, दोनों दिशाओं से विराट चेष्टा है।

इस चेष्टा के ब्यौरे में जाने का यहाँ प्रसंग नहीं। महत्व की बात यह है कि भरत ने जो बात उठायी, आगे के विचारकों ने उसे बढ़ाया, विवरण-विवेचना का आधार दिया। अभिनव ने ऐसी कलाओं के लिए एक नाम रखा-स्वप्रतिष्ठ। नाम उन्होंने नृत्त के प्रसंग में रखा। शिव की कला थी शिव की तरह ही स्वतंत्र, स्वप्रतिष्ठ। अभिनव का नाम आज के अमूर्त से अधिक सार्थक, संगत है। कला की जिस प्रवृत्ति के लिए रखा गया है, उसके तात्पर्य को, मर्म को, पैठ से पकड़ता है। क्योंकि जैसा हम ऊपर देख आये हैं, बात यहाँ रूप-हीनता की नहीं है, रूप से स्वातन्त्र्य की है- अनुकरण से मुक्त होकर अपने ही में रहकर, स्वप्रतिष्ठ होकर, रूप साधने की है। अभिनव के शब्द को हमारे आज के विचार में भी जीवन्त स्थान मिलना चाहिए। आज की कला जैसे आत्मबोध के साथ स्वप्रतिष्ठ होना चाहती है, प्राचीन संगीत और वृत्त दोनों आत्मचेतन भाव से स्वप्रतिष्ठ थे। आज भी हैं। हालाँकि उनके लिए आज हम इस शब्द का प्रयोग भूल गये हैं। तो, आज की नॉन-फिगरेटिव कला का जो दावा है कि उसमें अभूतपूर्व कुछ है, यह ठीक नहीं-इतिहास की अनदेखी है। हमारी अपनी अनदेखी है।

यह ठीक है कि भरत ने चित्रकला की या मूर्तिकला की परम्परा में कला को स्वप्रतिष्ठ करने की कोई प्रवृत्ति नहीं उभरी। पर विचित्र बात यह भी है कि जब चित्रकला में प्रतिष्ठ होने की प्रवृत्ति हमारे यहाँ उभरी तो हमने अपने भीतर झाँककर नहीं देखा, कि बात न नयी है, न अट-पटी-जैसी हममें से कइयों को अब तक लगती है हम अमूर्त से घबराते हैं; अमूर्त से अपनी संवेदना को हटा लेते हैं, उसकी ओर बढ़ा नहीं चाहते- सोच बैठते हैं अमूर्त 'पकड़' में नहीं आ सकता। पर अपने संगीत, नृत्त की ओर देखें तो बात 'सुगम' न सही 'परिचित' के दायरे में तो आ जानी चाहिए। फिर अगर इन कलाों की विचार-परम्परा की ओर हम ध्यान करें तो सभी कलाओं में स्वप्रतिष्ठ की स्वीकृति को एक अपनापन दे सकेंगे।

भरत के प्रयास से एक और बात उभरती है, जिस पर कुछ विचार करना चाहता हूँ। हम देखते हैं कि भरत के लिए एक ही कला में बिल्कुल भिन्न सम्भावनाओं की स्वीकृति है- वही कला अपने स्वतंत्र बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों साध सकती है। हम पाते भी हैं कि चित्रकला मूर्त भी हो सकती है, अमूर्त भी स्वप्रतिष्ठ भी और सादृश्य या अनुकरणधर्मी भी। अमूर्त के प्रचलन के बाद भी चित्र में, या भास्कर्य में, ये दोनों धारायें साथ चलती हैं। एक ही कलाकार दोनों दिशाओं में तूलिका, छेनी चलाता है। नाच में इसी का समकक्ष भेद है नृत्य। नृत्त के रूप में अमूर्त होते हैं, नृत्य के मूर्त, क्योंकि अभिनय को सँजोते हैं। एक ही नर्तक या नर्तकी दोनों दिशाओं में बढ़ते दिखते हैं। संगीत में भी समतुल्य भेद उभरता है : विशुद्ध रागदारी में और बोल की गायकी में- जो भेद ध्रुपद और ठुमरी में देखा जा सकता है। यही बात हमारे नृत्य, संगीत में भी देखी जा सकती है। विचारकों ने इसकी चर्चा भी की है, विशेषकर अभिनव गुप्त ने। हमने साहित्य-चर्चा में अभिनव को बहुत महिमा दी है, पर हम मूर्त-अमूर्त की बात करें तो उनके विचार के इस पक्ष पर भी आज ध्यान जाना चाहिए।

कला में मूर्त, अमूर्त की दिशायें कला में निहित, स्वरूप-निष्ठ दिशायें हैं, बात कला के 'आधुनिक' या पश्चिम-निष्ठ होने न होने की नहीं है। किसी कला विशेष में स्वप्रतिष्ठ का किसी काल विशेष या देश विशेष में उभरना काल की नहीं, एक चेतना, एक चेष्टा विशेष की बात होती है। आखिर भारत में जब संगीत और नृत्त पूरे आत्मबोध के साथ स्वतंत्र रूप-साधना में संयत थे, तब पश्चिम में या अन्यत्र इस प्रवृत्ति का अभाव ही था। पर मैं नहीं समझता कि इस बात को तूल देना बहुत मायने रखता है।

सच तो यह है कि जब कोई कला चली आती रूढ़ियों से निकलकर स्वतंत्र साधना का विषय बनती है तो उसकी भिन्न सम्भावनायें आगे आती हैं, समुदाय, सम्प्रदाय और फिर इनकी परम्परायें उभरती हैं जो भिन्न प्रवृत्तियों को पालते हुए कला को अपनी दृष्टि से प्रग्भ, विदग्ध रूप देती है : उसके रूपों की, व्यंजना की समृद्धि साधती है। ऐसी प्रगल्भ, आत्मचेतन कला को मार्गी कला का नाम दिया जा सकता है। ऐसी कला में सम्भावना की दो दिशायें निहित होती हैं- शायद सभी कलाओं में होती हैं, कम या ज्यादा : कला अपने से बाहर लोक को अपनी तरह से प्रतिबिम्बित कर सकती है; अपने स्वतंत्र रूप भी साध सकती है।

(स्रोत : कला भारती)

ऐसा माना जाता है कि घण्टा ध्वनि से निकलने वाला स्वर 'ओंकार' है और घण्टा बार-बार बजाने से उसी की आवृत्ति होती है। ओंकार से ही ब्रह्माण्ड की निवृत्ति हुई है। घण्टा नाद सृष्टि के प्रारंभ का प्रतीक है। घण्टा ध्वनि सृष्टि के विलय का प्रतीक है। मनुष्य के मन में कई तरह की अमूर्त घण्टियाँ होती हैं। इन घण्टियों के बजने का कोई समय नहीं होता। कब कोई घण्टी बज जाये! यह मन की स्थिति पर निर्भर है।

जीवन चक्र के आसपास एक पवित्र ध्वनि

वसन्त निरगुणे

वेदव्यास ने महाभारत में एक कथा बुनी है। कथा क्या है, महाभारत जैसे महाविनाशकारी रक्त पाती मारकाट के बीच जीवन शेष रहने का एक अमर संदेश है। महासंग्राम में समूह सेना और सेनापति नष्ट हो जाये यहाँ तक कि धरती उलट-पलट जाये, चाहे प्रलय हो जाये, फिर भी जीवन शेष रहता है। कुरुक्षेत्र के मैदान में एक टिटहरी ने अण्डे दिये थे। घोड़े, हाथी, पैदल सेना के प्राणलेवा आघातों से वे अण्डे कैसे बच सकते थे? जरा सी देर में कितने हाथी, घोड़े, पैदल सैनिक के पैर के नीचे आकर नष्ट हो सकते थे। पर विधना ऐसा नहीं चाहते थे, क्योंकि उन्हें निर्दोष जीवन को बचाना था। महाभारत की लड़ाई से उनका कोई लेना देना नहीं था। संयोग से एक हाथी की लटकती बँधी घण्टी टूटकर उन अण्डों पर गिर पड़ी थी और टिटहरी के बच्चे सुरक्षित बच गये थे। हाथी की झूल में यदि घण्टी नहीं होती तो वेदव्यास के मस्तिष्क में इस 'अमर कथा' के बीज नहीं उगते। युद्ध की विभीषिका में 'घण्टी' का ऐसा अर्थपूर्ण प्रयोग वेदव्यास जैसे महर्षि ने पहली बार किया था। मंदिर में बजाई जाने वाली घंटियों का अलग मुकाम रहा है।

घण्टी का सम्बन्ध सबसे पहले हमें भगवान शिव के साथ कैलाश पर्वत पर रहने वाले गणों से मिलता है। घण्टाकर्ण, शिवजी के एक गण का नाम है। जिसके कान घण्टाकार थे। नंदी शिव का दूसरा गण है, जो शिव का वाहन है। नंदी के गले में घण्टी बँधी होती है, जो उसकी पहचान की सूचक और प्रतीक है। मवेशियों के गले में घण्टी बाँधने के पीछे नंदी जिससे गौवंश चला है, की स्मृति-सम्मान का द्योतक माना जाता है। दूर से आते हुए मवेशी को घण्टी की आवाज से कोई भी पहचान सकता है। वृषभ अर्थात् बैल के गले में घण्टी अवश्य बांधी जाती है, लेकिन विशेष अवसरों पर बैलों के तन पर रंगीन कपड़ों से बनी कलात्मक 'झूल' के साथ गले में गठी हुई घण्टियों का समूह 'घूघरमाल' बाँधने की लोक में प्रथा है। मिश्र के वृषभदेव 'ऐटिस' के गले में भी घण्टी बाँधी गई है।

धातु युग में लोह, पीतल, ताँबा, काँसे, चाँदी और सोने तक की घण्टियाँ बनने लगीं। बाद में मंदिर मूर्तियों के साथ पत्थर पर मंदिर की शोभा के लिये घण्टी वाले वृषभ बैल, नन्दी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की जाने लगीं। खासकर शिव मंदिर के सभा मण्डप में बैठे और खड़े नन्दी के गले में घण्टी और घण्टी माला का उद्रेषण अनिवार्य रूप से होने लगा था। मंदिर के सभामण्डप में और गिरजाघरों के शिखरों पर घण्टा लगाने

की परम्परा है। घण्टी या घण्टे के बजने से जो ध्वनि के वलय पैदा होते हैं और शून्य में लयित हो जाते हैं। जिससे शरीर में एक सकारात्मक ऊर्जा उत्पन्न होती है और वह सहस्रार यानी ब्रह्माण्ड में आनंद का संचार करती है। उससे तन और मन हल्कापन या मुक्तता महसूस करता है। यही कारण है मन्दिर में घण्टी-घण्टे लटकाये जाते हैं और पूजा आरती में घण्टा ध्वनि की बार-बार आवृत्ति इसी कारण से की जाती है। मंदिर के सभा मण्डप का आकार इसीलिये घण्टी के भीतरी गोलाई की तरह होता है और घण्टा ध्वनि वलय के साथ अधिक गूँज उत्पन्न करती है। घण्टा या घण्टी मनुष्य के अवचेतन मन को जगाने का कार्य करती है। घण्टा ध्वनि मन्दिर और शरीर में बहुत समय तक समायी रहती है। सभा मण्डप और मंदिर का गर्भगृह इसीलिए घण्टों के आकार के बनाये जाते हैं ताकि ध्वनि वलय बार-बार टकराकर मनुष्य के कानों में लौटता रहे। मस्जिद की गुम्बद के पीछे भी यही अवधारणा काम करती है, वहाँ घण्टे की ध्वनि की बजाय 'अजान' की ध्वनि के वलय बनते हैं।

जिस घर में घण्टी होती है, उस घर के पाप-दोष, बाधाएँ दूर हो जाती हैं। घण्टी की ध्वनि से घर का वातावरण शुद्ध और पवित्र होता है। अलाय-बलाय और भूत-प्रेत बाधाएँ प्रवेश नहीं करती। घण्टी के आकार-प्रकार कई तरह के होते हैं। इसलिए उपयोगिता और स्थान विशेष के कारण उसके नाम भी अलग-अलग होते हैं। घण्टी का आकार छोटा और घण्टे का आकार बड़ा होता है। घण्टी छोटी से छोटी और घण्टा बड़ा से बड़ा हो सकता है। ये आकार चाक्षुष दूरी पर परिभाषित होते हैं। घण्टी अथवा घण्टे को देखकर आँखों में जो आकृति बनती है। वही उसका आकार हमारे भीतर आभासित होता है और उसी के आधार पर हम उसकी ध्वनि को ग्रहण रकते हैं। यह प्रत्येक आँख और मन के साथ घटित होता है।

घण्टी कहने से हमारे जेहन में जो आकार उभरता है। वह एक मंदिर के 'अर्द्ध शिर' की तरह होता है जो भीतर से 'खाली' होता है। उस खाली के बीच में लोहे, पीतल या लकड़ी का घण्टा लटकाया जाता है। जिसे हाथ से आघात देकर घंटी के वलयतन से टकराया जाता है, उससे 'टन-टन' की आाज के साथ गूँजदार ध्वनि निकलती है। घण्टी-घण्टे को टाँगने के लिये ऊपर की ओर एक छेददार 'हुक' होता है, जिसे घण्टी की 'चोटी भी कह सकते हैं। हाथ में पकड़कर बजाने वाली घण्टियों में ऊपर एक दण्ड होता है, जिस पर 'गरूड़जी, हनुमानजी का चक्र विराजमान होते हैं। सामान्यतः घण्टी का यह आकार उसके अविर्भावकाल से रहा है। जब से और जिसने घण्टी के आकार को जैसा पहली बार गढ़ा है, तब से लेकर आज तक उसके आकार में कोई परिवर्तन नहीं आया है। केवल उसके छोटे-बड़े होने और उस पर समय-समय पर अलंकृत होने के।

घुंघरू, घुघरी, घण्टिका, घड़ी-घड़ियाल, मंजीरा, झाँझ आदि अन्ततः घण्टी के ही रूप होते हैं। घुँघरू नृत्य में पैरों में बाँधे जातेहैं। घुँघरु अन्दर से पोले होते हैं और उसमें छोटे-छोटे लोहे के गोल कंकड़ डाले जाते हैं, इसलिये घुँघरू का आकार घण्टी से थोड़ा भिन्न होता है। इनका आकार गोल और लम्बे बेर की तरह होता है। घुँघरुओं का समूह समवेत सुमधुर ध्वनियाँ उत्पन्न करता है, उसे लयकारिता और तालबद्धता के साथ नर्तक पैरों की हरकत के माध्यम से नियोजित करता है। घुँघरुओं की जगह आदिम, लोक और शास्त्रीय कलाओं में बराबर रही है। बस्तर की मुरिया जनजाति के पारम्परिक ककसाड़ नृत्य में नर्तक कमर में बीस-बीस पच्चीस-पच्चीस किलो की घण्टियाँ कमर में बाँधकर रात-रात भर नाचते हैं। वे पैरों में बजने वाली लोहे की पैंजन पहनते हैं। पैंजन पोले होते हैं, जिनमें लोहे के कंकर डले होते हैं, उससे एक प्रकार की 'छन्न-छन्न' की आवाज निकलती है, जो एक तरह का आदिम संगीत, लय-ताल के साथ रचती है। कमर में बँधी घण्टियों की ध्वनि सर्वथा अलग होती है। पैंजन पैरों की गति के साथ बजती हैं और कमर में बँधी घण्टियों की समवेत ध्वनि कमर के धीरे-धीरे लचकने की गति से उत्पन्न होती है। आदिवासी मड़ई मेले में 'चण्डी' निकलाते हैं, उसमें मोर पंखों के साथ एक घण्टी भी बाँधते हैं। ठाठिया आदिवासी गोवर्धन पूजा में पोपट' निकालते हैं, उसमें पाँच वृक्षों की पत्तियाँ, नींबू और गाय के गले की 'घण्टी' बँधी होती हैं। घुँघरियों का आकार छोटा बूंदी के समान होता है। यह पोले और ठोस दोनों प्रकार की होती हैं। इनका उपयोग पायल या पायजेब में किया जाता है, जो प्रायः चलने पर मधुर स्वर में 'छम-छम' प्रकट करती है। घुघरियाँ जहाँ अलंकरण का काम करती है, वहीं पैरों से मधुर संगीत भी पैदा करने का काम करती हैं। पायल-पायजेब महिलाओं का पारम्परिक लोकप्रिय गहना है।

छोटी-छोटी घण्टिकाएँ अनेक जगह अलंकरण के लिए काम में ली जाती हैं। भले ही उनसे आवाज कम निकलती हो, लेकिन उन्हें देख कर 'मन की घण्टियाँ' अवश्य बजने लगती हैं। क्षुद्र घण्टियों का वर्णन वाचिक और लिखित साहित्य दोनों में बखूबी आया है।

घड़ी (घण्टी) घड़ियाल का आकार गोल और चपटा होता है, जो पीतल, काँसा, ताँबे से बनाई जाती है, जिसे लकड़ी या लोहे के हथौड़े से बजाया जाता है। घड़ी-घड़ियाल मंदिरों में प्रायः आरती का अंग होती है। उसे दोनों हाथों से बजाया जाता है। सत्यनारायण की कथा में अध्याय के अन्त में घड़ियाल (घण्टी) और शंख बजाने की परम्परा ही विकसित हो गई है।

मंजीरा, झाल और झाँझ-झालर, लोटा घण्टा ध्वनि को मधुरता और तीव्रता प्रदान करने वाले ताल वाद्य माने जाते हैं। इनके केन्द्र में भी घण्टी की अवधारणा स्वीकृत हैं। भले ही इनके आकार घण्टी से नहीं मिलते, फिर भी प्रकृति में ये लोकवाद्य घण्टी परिवार के ही हैं।

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हदये न च।

मद भक्ताः यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद।।

मैं (ब्रह्म) बैकुण्ठ में निवास नहीं करता। योगियों के हृदय में भी नहीं रहता। नारद! मैं तो भक्तों के द्वारा गाये जाने वाले गीत-गान में स्थिर होता हूँ। गीत गायन में 'नाद' अंगीकृत है।

संगीत में 'नाद ब्रह्म' की चर्चा की जाती है और अध्यात्म में 'अनहद नाद' की। 'नाद' शरीर के भीतर आत्मा में पैदा होने वाला संगीत है। शरीर से बाहर यह नाद केवल घण्टी या घण्टे से पैदा किया जाता है। घण्टी अत्यन्त प्राचीन 'नाद प्रतीक' है। तांत्रिक पूजा पद्धतियों में घण्टी तंत्र-मंत्र का हिस्सा रही है। इसी तंत्र विद्या में शरीर को एक घण्टी माना है, उसका आकार एक ध्यान मग्न बैठे योगी की तरह माना जाता है। घण्टी से जैसे 'नाद' उत्पन्न होता है, उसी तरह से यौगिक क्रियाओं के माध्यम से कुण्डलिनी जागरण से सहस्रार में 'अनहद नाद'

को जगाया जाता है, जो स्वर्गिक संगीत होता है। यही संगीत 'नाद ब्रह्म' कहलाता है। इसे कोई सिद्ध साधक योगी ही अनुभव कर सकता है और वही मस्तिष्क (ब्रह्माण्ड) रूपी घण्टे से उत्पन्न नाद रूपी 'अमृत संगीत' में सदैव 'स्थित' होता है। यही 'अमर पद' होता है। यह यज्ञ में आहुति डालने के बाद 'स्वाहा' उच्चारण के साथ घण्टी बजाने का रिवाज रहा है।

पूजा में घण्टा-घण्टी, घड़ियाल झाँझ, झाल, झालर, झींका, मंजीरा, घुँघरू आदि को जोड़ने के पीछे क्या अवधारणा हो सकती है घण्टी की पूजा की जाती है। पूजा में आरती करते समय घण्टी-घड़ियाल अवश्य बजाये जाते हैं। मंदिर में प्रवेश करते समय मंदिर के सभागृह में लटके घण्टे को बजाने की प्रथा है। भक्ति संगीत में झाँझ, झाल, झालर, झींका, मंजीरा का प्रयोग किया जाता है। इसका कोई न कोई कारण रहा होगा। इन लय-ताल वाद्यों में एक बात समान रूप से दिखाई तथा सुनाई देती है। वह है ध्वनि या नाद। इन वाद्यों से तीव्र और मद्धिम ध्वनियाँ निकाली जा सकती हैं, जो शरीर में नाद पैदा कर सकती हैं। इसलिए इन वाद्य यंत्रों को पूजा और मंदिर में जगह मिली है। घण्टी या घण्टा नाद का मूल है। घण्टा या घण्टे को बजाकर नाद उत्पन्न किया जाता है। सामूहिक रूप से घण्टे बजाकर 'निनाद' पैदा किया जाता है। नाद से उत्पन्न ध्वनि शरीर के भीतर नाभि-केन्द्र में सांगीतिक आघात करती है, जिससे कुण्डलिनी का जागरण संभव है। एक कथा कहती है नाद शिव के डमरू से निकला और वह समुद्र, बादल, बिजली, शंख और घण्टा में समा गया। इसलिए वह समुद्र का गर्जन, बादल का घोष, बिजली का तर्जन, शंख और घण्टा का नाद बनकर हमारे समक्ष आया।

घण्टा नाद सृष्टि के प्रारंभ का प्रतीक है। घण्टे पर पहली चोट सृष्टि के उद्भव, अनुगूँजें विस्तार तथा धीरे-धीरे विलय होती घण्टा ध्वनि सृष्टि के विलय का प्रतीक है। इस शाश्वत सत्य को हृदय में जगाकर ही मंदिर के गर्भगृह में बैठे देव (आत्म) का दर्शन करना सार्थक है। घण्टा ध्वनि इसी स्मृति को जगाती है। आरती, भजन और पार्वतना में घण्टा, घड़ियाल ध्वनियाँ शरीर के भीतर नाद पैदा करने के लिये उपयोग में लाई जाती हैं। इसलिए शरीर में देवी भाव पैदा करने के लिये ध्वनि अथवा संगीत का सहारा लिया जाता है। भीतर समाया नाद और शरीर की कोशिकाओं में हरकत पैदा कर देता है और देवी भाव वाला व्यक्ति बजते हुए संगीत घण्टा ध्वनियों के आवर्त में प्रत्यक्ष रूप से नाचने लगता है। यह घण्टा ध्वनि का ही कमाल होता है। कुछ समय के लिये वह अलौकिक आनंद में पूजा करती माँ के हाथ से छोटी सी घण्टी की ध्वनि भी पूरे घर को जगाने और पवित्र करने में सक्षम होती है। मनुष्य तो मनुष्य, घण्टा ध्वनि देवी-देवताओं और वनस्पति पेड़-पौधों तक को जगाने का कार्य करती है। घण्टा ध्वनि से देवी-देवता प्रसन्न होते हैं। इसलिए आरती में घण्टा ध्वनि अनिवार्य होती है। उराँय जनजाति के नृत्य मण्डल के केन्द्र में माँदर, झाल के साथ एक नर्तक के हाथ में घण्टी निरन्तर लगायी जाती है। अकेली घण्टी या घण्टा सभी वाद्यों की पूर्ति कर देता है। इस ध्वनि से प्राणी मात्र प्रभावित होते हैं। मैं मंदिर के एक कुत्ते को जानता हूँ, जो रोज शाम की आरती में बजने वाले घण्टा ध्वनि के साथ राग मिलाकर ऊँचा मुँह करके भौंकने लगता था और आरती समाप्त होने पर चुप हो जाता था। यह ध्वनि का ही प्रभाव था। देव प्रबोधिनी एकादशी के दिन निमाड़ अंचल में पूजा

घण्टी की उत्पत्ति कथा

'नन्दी' और 'शिव-पार्वती' से जुड़ी है। नन्दी के गले में जब घण्टी नहीं बंधी थी, उस समय की बात है। नन्दी अपने स्वभाव के कारण कैलाश पर्वत से कहीं दूर चला गया। शाम हो गई, जब नन्दी नहीं लौटा तो शिव ने पार्वती से पूछा-नन्दी कहाँ है? पार्वती ने अनभिज्ञता प्रकट की। सब जगह ढूँढने पर भी नन्दी का जब पता नहीं लगा तो शिव परेशान हो गये। शाम होने लगी थी। सूर्य अस्तांचल की ओर जा रहा था, महादेव ने नन्दी को आते देखा। शिवशंकर बहुत नाराज हुए। नन्दी पर उनका सारा गुस्सा बरस पड़ा। इतने में पार्वती बाहर निकलीं। महादेव ने पार्वती से नन्दी की शिकायत करते हुए कहा- पार्वती! इसे आज से बाँधकर रखा जाये। इसके गले में रस्सी लगाओ। पार्वती ने कहा- भगवन्! इस प्रकार तो हम नन्दी को कैद में डाल देंगे। उसकी स्वतंत्रता छीनने का हक हमें नहीं है। महादेव का गुस्सा दुगुना हो गया और बोले- पार्वती इसको वश में रखने का कोई उपाय तुम्हारे पास है तो बताओ।

पार्वती ने कहा- इसका उपाय है मेरे पास प्रभु।

वह क्या है? तपाक से महादेव ने पूछा।

- नन्दी के गले में हम बजने वाली एक घण्टी डाल दें तो कैसा लगेगा!

उसके चलने से घण्टी बजती रहेगी और वह कहाँ है, इसकी सूचना भी हमें मिलती रहेगी।

महादेव- घण्टी किस चीज़ की होगी।

- 'लकड़ी की होगी।'

पार्वती ने लकड़ी की बजने वाली घण्टी बनवाई और उसे रस्सी के सहारे से नंदी के गले में बाँध दी। अब नंदी जहाँ-जहाँ जाता, उसके गले की घण्टी 'टन-टन' बजती रहती। जिससे महादेव को भी पता लगता रहता कि नंदी कहीं न कहीं आसपास ही है।

इस प्रकार पहली काष्ठ घण्टी का निर्माण हुआ। आज भी कई मवेशियों के गले में लकड़ी की घण्टी, जिसे 'टपरी' कहा जाता है, बाँधी जाती है।

के पश्चात् घण्टी बजाकर देवों को जगाया जाता है। तब घण्टी बजाते हुए एक मंत्र बोला जाता है। घण्टी में सभी देवताओं का वास है।

अवला-सवला बोर भाजी,
उठो देव! घंटाल बाजी।

ऐसा माना जाता है कि घण्टा ध्वनि से निकलने वाला स्वर 'ओंकार' है और घण्टा बार-बार बजाने से उसी की आवृत्ति होती है। ओंकार से ही ब्रह्माण्ड की निवृत्ति हुई है। इसके प्रमाण भैरव और गणेश स्वयं हैं। दोनों की कमर में घण्टियों का श्रृंगार इस बात की पुष्टि करता है। खरगौन के समीप भीकनगांव तहसील के पोखर गाँव में मोती बाबा नाम से प्रसिद्ध भिनट (भैरव) की पेड़ की थानक पर हजारों घण्टियाँ लटकाई जाती हैं। बाल कृष्ण की कमर में माँ यशोदा करधनी के साथ घण्टी बांधती। बड़े होने पर भी केशव को घण्टी प्रिय रही। घण्टी के हृदय स्थल में कृष्ण का वास है। नाथ सम्प्रदाय के भैरू झोली (सम्प्रदाय) के योगी कमर में बाँधी गई बालों की सेली के साथ एक बड़ा घुँघरा (घण्टा) लटकाते हैं, जो चलते समय जाँघों से टकराकर घनी आवाज करती हैं, जिससे पता लगता था कि भैरू झोली बाबा आ गया है। यह सुनकर बच्चे और बड़े भैरू बाबा के पास 'भभूत' लेने के लिये दौड़ पड़ते थे। भैरव के विग्रह में उनके एक हाथ में घण्टी दी जाती है। कई देवी मूर्तियों के हाथ में घण्टी का प्रतीक उद्रेखित किया जाता है। नौ महादेवियों में एक देवी का नाम ही 'चंद्रघण्टा' है। राम की भक्ति में लीन हनुमान की कई मूर्तियों और चित्र मंजीरे-खड़ताल के साथ उकेरे जाते हैं। कई देवी-देवताओं की मनौती में घण्टियाँ चढ़ाने की परम्परा है। देश में कई देव और देवियों के ऐसे मंदिर में मनौती पूरी होने पर कबूली गई वजन की घण्टी और घम्टे चढ़ाये जाते हैं। जिनका वजन एक किलो से लगाकर क्विंटलों तक हो सकता है। छोटी-छोटी घण्टियाँ जो हजारों की संख्या में चढ़ाई जाती हैं। मनौतियाँ पुत्र, धन, विवाह आदि कार्य सिद्धि पर अनुष्ठान के साथ पूरी की जाती हैं। इस अवधारणा में घण्टी कामनापूर्ति का भी प्रतीक बन जाती है। टीकमगढ़ में एक अछरू माता' का मंदिर है, जहाँ एक पत्थर है पत्थर को बजाने पर घण्टी की ध्वनि निकलती है, लोग उसी पत्थर को बजाकर मंदिर में दर्शन के लिये जाते हैं। ऐसे ही सरगुजा में के जंगल में एक बड़ा पत्थर है, जिसे पत्थर से बजाने पर हर तरफ से अलग-अलग प्रकार की घण्टा ध्वनियाँ निकलती हैं।

एक दृष्टि से देखें तो घण्टी प्रजनन का प्रतीक है। घण्टे का मंदिरनुमा धातु का आवरण योनि का प्रतीक है और उसमें लटकने वाला भाग 'लिंग' का प्रतीक है। इनसे मिलकर जो ध्वनि उत्पन्न होती है, वह अवचेतन की कहीं न कहीं कामेच्छा पूर्ति की सृष्टि की ध्वनि होती है। इस तरह सम्पूर्ण घण्टी एक मानवीय देह बन जाती है, जो प्रजनन की आशा और आकांक्षा का द्योतक है।

घण्टी या घण्टा समय का प्रतीक है। एक समय में जब जलघण्टियाँ यानी पानी की घड़ियों से समय नापने का चलन था, तब

'घण्टा' बजाकर समय की सबको सूचना दी जाती थी। राज्यों की ओर से जनता को समय बताने के लिये इसकी पूरी व्यवस्था होती थी। जिसे 'पहर बजाना' कहते थे। जब आधुनिक घड़ियों का जमाना आया, तब घड़ियों में 'घण्टा ध्वनि' उपकरण लगाये गये। अलार्म 'घण्टा-ध्वनि' का परिवर्तित रूप है। आज के फोन-मोबाईल की 'रिंगटोन' घण्टा ध्वनि का ही रूप है।

मनुष्य के जन्म से लगाकर मृत्युपर्यन्त घण्टी और घण्टा ध्वनि का साथ रहता है। बच्चे के जन्म पर यदि 'लड़का' हुआ तो 'थाली' और लड़की हुई तो 'सूपड़ा' बजाकर प्रतीक रूप में 'घण्टा ध्वनि' उत्पन्न करके सबको सूचित किया जाता है। विद्यालय में घण्टी बजाकर विषयों की पढ़ाई की जाती है। छात्रावास में प्रातः उठने की घण्टी, नाश्ते की घण्टी, भोजन की घण्टी, सायं प्रार्थना की घण्टी, रात को सोने की घण्टी सारे कार्यों को घण्टी की ध्वनि समय में विभाजित कर दिया जाता है। धरती पर कोई भी व्यक्ति ऐसा न होगा, जिनके कानों में अभी तक स्कूल की घण्टियों की अनुगूँज न बची होगी। रेलवे का समस्त कारोबार घण्टी-समय पर निर्धारित है। गिरजाघरों में प्रार्थना के समय को घण्टे की ध्वनि से ही सूचित किया जाता है।

मनुष्य के मन में कई तरह की अमूर्त घण्टियाँ होती हैं। इन घण्टियों के बजने का कोई समय नहीं होता। कब कोई घण्टी बज जाय। यह मन की स्थिति पर निर्भर है। यही कारण है कि मनीषियों ने 'मन को घण्टा' कहा है। जब किसी मनुष्य के मन में किसी को चाहने की ललक दिखाई देती है तो उसे कहा जाता है- 'अमुक के मन में घण्टियाँ बजने लगीं।' यह मुहावरा अक्सर सुनने को मिलता है और कहीं दुर्दैव की आशंका हो जाये तो 'खतरे की घण्टियाँ भी बजने लगती हैं।

साहित्य में घण्टी और घण्टे का प्रायः उपयोग हुआ है। महाकवि माघ ने संस्कृत वाङ्मय में घण्टे का इतना मौलिक चित्रण किया है कि मीमांसकों ने उन्हें 'घण्टा माघ' की उपाधि ही दे डाली। उन्होंने एक साथ उदित चाँद और सूरज की उपमा हाथी पर दोनों ओर लटके घण्टों से कर दी, जो अनुपम है। वाचिक परम्परा के गीतों में घण्टा का अनेक बार जिक्र आता है, जो व्यक्ति सबसे थोड़ा होशियार होता है, उसे लोक में 'गुरू घण्टाल' कहते हैं। निमाड़ी के एक गरबा गीत में 'घण्टा नाद की अनुगूँजें' कितनी हार्दिक हैं-

अम्बा थारो गरबो अनमोल
राधाजी दौड़ी-दौड़ी आवऽ।
हँऊ तो खड़ी थी अम्बा मंदिर मऽ,
घण्टी नऽ को सबद हुयो घनघोर।
राधा दौड़ी-दौड़ी आवऽ।।
हऊँ तो खड़ी थी बिन्दार जो बन मऽ।
मुरली को सबद हुयो घनघोर।
राधा दौड़ी-दौड़ी आवऽ।।

कृष्ण की बाँसुरी-मुद्रा कपोल-कल्पित या केवल धार्मिक नहीं है, उनका अस्तित्व प्रमाणित है। कृष्ण की वंशी-वादन की कला को लोक गाथा मान कर एक तरफ नहीं किया जा सकता। उनके जैसा पूर्ण वादक कभी कोई हुआ ही नहीं है। इन बातों के आधार पर उनकी वादन-शैली की कल्पना भले ही न की जा सके तो भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उंगलियों द्वारा कोमल और तीव्र स्वर निकालने की परम्परा युगों पहले अवश्य रही होगी।

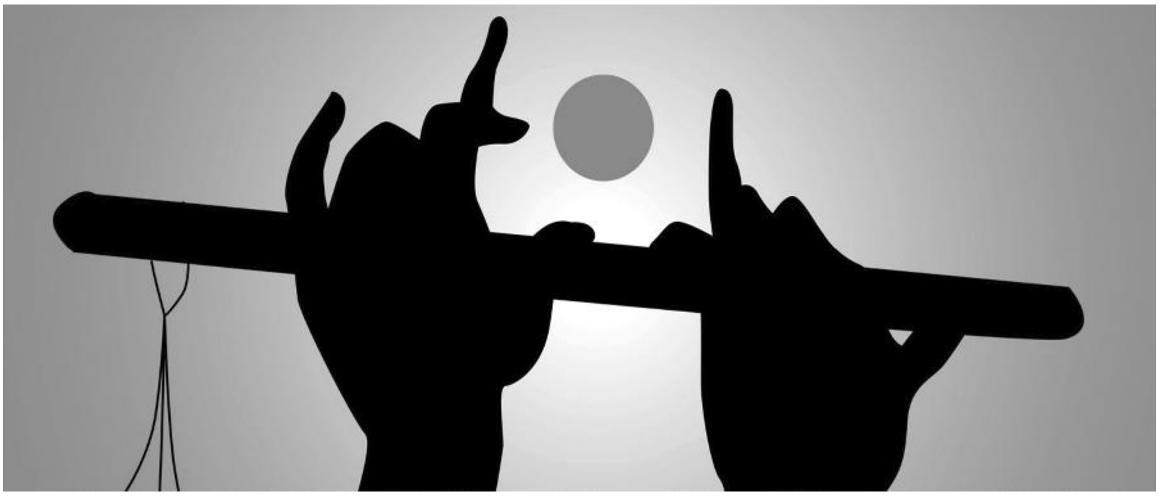

वेणु का विश्व

रघुनाथ सेठ

शायद समस्त संगीत-प्रेमियों का या वंशी-वादकों का दुर्भाग्य ही रहा होगा कि अतीत में जो कुछ गाया बजाया गया, उसे रेकार्ड नहीं किया जा सका और ऐसे साधन भी उपलब्ध नहीं थे। यानि रेकार्ड किये जाने की परम्परा, जो लगभग 75 वर्ष पूर्व ही आरम्भ हुई। दूसरा कारण ये कि हमारी शास्त्रीय संगीत की परम्परा ही मौखिक, गुरुकुल या गुरू शिष्य वाली परम्परा रही है, जहाँ, गुरू-शिष्य को सामने बैठाकर ही शिक्षा प्रदान करता रहा है। इसी कारण अधिकांशतः यह कह सकना कठिन है कि इतिहास में वादन-शैली का क्या रूप रहा होगा। हाँ, तर्क द्वारा कुछ कल्पना मात्र की जा सकती है। भारतीय वंशी आदि वाद्यों में से एक है, जिसकी लोकप्रियता वेदों के समय से ही रही है। ये प्रमाणित है, परन्तु वादन-शैली का आधार क्या हो सकता है?

शारंगदेव ने 12वीं शताब्दी में वंशी की व्याख्या बड़े विस्तार से की है। अतः इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि उस समय वंशी को एक पूर्ण वाद्य मान लिया गया था, क्योंकि जो वाद्य पूर्ण न हो, जिसमें सीमाएँ हों व समय के संगीत की पूर्ण रूप से अवतारणा न की जा सके। उस वाद्य को सम्पूर्ण भारतीय संगीत का प्रतिनिधि किस प्रकार माना जा सकता है। इतिहास की दिशा में और पीछे चलते हैं। अर्थात् 6वीं शताब्दी में भरत नाट्य शास्त्र के समय में। वंशी किस प्रकार बनाई जानी चाहिए? इसका सविस्तार इस ग्रन्थ में वर्णन है। लम्बाई, चौड़ाई, वंश के आकार घनत्व और एक से दूसरे छिद्रों के अन्तर के विषय में पूर्ण विवरण है।

सन् 1951 में आचार्य रतंजनकर जी ने मुझे एक पुस्तिका दी, जो आचार्य बृहस्पति द्वारा प्रकाशित की गई थी, जिसमें अंगुष्ठ प्रमाण के आधार पर भरत नाट्य शास्त्र में किस प्रकार वंशी बनाई जाती थी, इसकी व्याख्या थी। मुझे निर्देशित आधार वंशी बनाने की आज्ञा हुई। मैंने जब अपनी अंगुलियों द्वारा नाप कर वंशी बनाई तो कुछ-कुछ काफी ठाठ जैसी बनी लगी, जिसमें 6 छिद्र थे, परन्तु बाद में मन में शंका उठी कि अंगुष्ठ तो सबका अलग-अलग होता है। इसलिए अंगुष्ठ प्रमाण से सही वंशी बन ही नहीं सकती, परन्तु बाद में विद्वानों द्वारा पता चला कि अंगुष्ठ प्रमाण का एक निश्चित नाप होता है कि एक अंगुष्ठ की लम्बाई इतनी होती है, चौड़ाई इतनी होती है- इस बात से इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वंशी विकसित वाद्य रहा होगा।

इतिहास की दिशा में और पीछे चलिए। अजंता एलोरा की जग-प्रसिद्ध गुफाओं में चित्रित एक गुफा में दो स्त्रियों का चित्र पाते हैं, जिसे दूसरी शताब्दी का माना गया है। इसमें दोनों स्त्रियाँ उतनी ही बड़ी बाँसुरी बजा रही हैं, जितनी वर्तमान समय में शास्त्रीय संगीत के लिए उपयुक्त वंशी मानी जाती है। क्या अपने आप ये बात इंगित नहीं रखती है कि वाद्य का काफी विकास दूसरी शती तक ही हो चुका था। वीणा के मुकाबले में वेणु शब्द वेदों में कम बार भले ही प्रयुक्त हुआ हो या भले ही इसे अनार्य वाद्य माना गया तो मुख्य बात यही है कि उस समय

सभी वाद्य संगत वाद्य ही माने जाते थे और वंशी भी मुख्य वाद्यों में से एक थी। पुराने से पुराने युग की मूर्तियों में जब भी वंशी बजाते किसी को दिखाया गया है, उसमें 6 छिद्रों को ही दिखाया गया है और आज के युग में भी जबकि वंशी उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्रमुख वाद्यों में गिनी जाती है। उसमें 6 उंगलियों या 6 छिद्रों द्वारा ही सम्पूर्ण संगीत का दिग्दर्शन जैसा लगता है। इसलिए इस परम्परा को श्रीकृष्ण की परम्परा मानना अतिशयोक्ति नहीं होगा। इसलिये जबकि आकार इत्यादि सभी कुछ 2000 साल से भी पुराना जैसा है तो इसकी वादन शैली भले ही बाज शैली न भी हो तो भी विकसित तो होगी ही, इतना तो मानना ही पड़ेगा।

एक बात और भी है, जिसे ध्यान देने की आवश्यकता है। सभी लिखित सामग्री में, मूर्तिकला में या चित्रों हर कहीं आड़ी वंशी को ही प्रधानता मिली है। आड़ी बाँसुरी में सही आवाज या करेक्ट ट्यून को निकालने की प्रक्रिया में कम से कम 6 महीने तो लग जाते हैं इतना कठिन वाद्य होने पर भी यह हजारों साल से लोकप्रिय है।

अंग्रेजों के आगमन के पूर्व कहिए या औरंगजेब के समय से ही जो उपलब्ध पुस्तकें थीं, वे भी लुप्तप्रायः हो गई, इसलिए वंशी ही क्या, सम्पूर्ण भारतीय संगीत अलग-अलग रूप से विकसित हुआ, जिसके कारण वर्तमान कर्नाटकीय वंशी छिद्रों के अनुसार स्तर स्थान व संख्या में थोड़े भिन्न अवश्य हैं, इसका आकार भी छोटा है या उत्तर भारतीय संगीत की बंशी से अलग है और पिछले 3-4 सौ वर्ष, संगीत की दृष्टि से बहुत अच्छे नहीं थे, परन्तु अष्ट छाप के कवि, जयदेव इत्यादि हमेशा ही कृष्ण की मुरली के दास रहे और निर्बाध रूप से साहित्य में मुरली का वर्णन आता ही रहा।

मेरे हिसाब से कृष्ण की कल्पना कपोल-कल्पित या केवल धार्मिक नहीं है उनका अस्तित्व प्रमाणित है। कृष्ण की वंशी-वादन की कला को लोक गाथा मान कर एक तरफ नहीं किया जा सकता उनके जैसा पूर्ण वादक कभी कोई हुआ ही नहीं है। इन बातों के आधार पर उनकी वादन-शैली की कल्पना तो न की जा सके तो भी निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उंगलियों द्वारा कोमल और तीव्र स्वर निकालने की परम्परा अवश्य रही होगी, क्योंकि भारतीय वंशी के प्रारम्भिक से प्रारम्भिक वादन को देखा जाए तो दो-चार धुनें भी बजाई जाएं तो भी कहीं न कहीं किसी छिद्र को अंगुली से आधा बन्द करने की आवश्यकता पड़ती ही है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इसकी वादन शैली कुछ न कुछ स्वतंत्र रूप अवश्य रखती होगी, क्योंकि स्वतंत्र वादन का उल्लेख वंशी के विषय में जितना अधिक मिलता है उतना किसी अन्य वाद्य का नहीं।इसके भी दो कारण समझ में आते हैं, प्रथम तो इसका संक्षिप्त आकार और किसी भी मुद्रा में बजा सकने की सुविधा। बैठकर, लेटकर, झूले में, चलते-चलते सभी प्रकार से वंशी बजा सकते हैं, जबकि तंत्र या घन या अवनद्य वाद्यों में ऐसी सुविधा नहीं है। दूसरा मुख्य कारण है कि इसकी आवाज जितनी दूर से सुनते हैं, उतनी अधिक प्रिय लगती है। रात के सन्नाटे ''डी'' की वंशी बहुत दूर तक सुनाई देती है। तो स्वाभाविक है कि इसका स्वतंत्र वादन किसी न किसी शैली में होता आया है। सर्वोपरि है, इसकी कर्णप्रिय आवाज या ट्यूनल अट्रेक्शन। सच पूछिए अपने अन्तःकरण से क्या आज भी इसकी आवाज जादुई नहीं लगती? इसकी आवाज का जादू ही इसकी स्वतंत्र वादन शैली का सम्पूर्ण इतिहास में प्रमाण है।

बाँसुरी के युग प्रवर्तक

सन् 1945 में पहले मैंने वंशी को मुँह से लगाया बन्देलखण्ड एवं उत्तरप्रदेश की लोक-धुनों से और 2-4 परिचित रागों के प्रारम्भिक ज्ञान से। जब मेरी संगीत-यात्रा शुरू हुई तो मैंने अपने इर्द-गिर्द ढूँढ़ना प्रारम्भ किया कि कौन, कहाँ, कैसे, अच्छी से अच्छी वंशी बजाता है। सन् 1948 में एक बार लखनऊ में आकाशवाणी से प्रसारित होता हुआ शास्त्रीय संगीत का वंशी का कार्यक्रम सुना तो मैं स्तब्ध रह गया। ये आवाज़ स्वर्गीय पन्नालाल घोष की बांसुरी की थी। लगभग आधे घण्टे के इस कार्यक्रम ने मुझे ऐसा उत्साहित किया कि मेरी जीवन-दिशा ही बदल गई। पन्नालालजी वंशी पर ख़्याल गायकी बजाते थे।

वंशी के युग प्रवर्तक वही थे, उन्होंने ही वंशी को कनसर्ट स्टेटस दिलाया, वंशी की आवाज के गांभीर्य से श्रोताओं को परिचित कराया। केवल शब्दों को छोड़कर विलम्बित- द्रुत खयाल की सफलतापूर्वक अवतारणा वंशी में की जा सकती है। इस धारणा को बदलने का श्रेय उन्हीं को जाता है। यही नहीं ठुमरी की छोटी-छोटी मुर्कियों की ओर कजरी इत्यादि लोकधुन की ठीक प्रस्तुति भी उन्हीं के द्वारा पहली बार सुनने को मिली, जिसका 78 आर.पी.एम. का रिकार्ड भी है। इसके पूर्व आकाशवाणी के एक कलाकार का वंशी वादन महाराष्ट्र में लोकप्रिय था, जिनका नाम दिनकर राव अमेल था। ये छोटे आर की सीधी वंशी बजाते थे। 78 आर.पी.एम. में बजाया इनका हिण्डोल राग काफी सुना जाता था, जिसकी दूसरी साइड में तिलंग राग था। लगभग 70-75 वर्ष पहले यंग इण्डिया, ओडियन, ट्विन एच.एम.वी. रिकार्डिंग कम्पनियों का भारत में आगमन अवश्य हुआ परन्तु वंशी के बहुत कम या नहीं के बराबर रिकार्ड उपलब्ध थे। कहा जाता है कि भातखण्डे जी भी पीतल की बाँसुरी बजाते थे। कलकत्ते में चानू बाबू बहुत अच्छी टिपरा बाँसुरी बजाते थे उनका स्ट्राकेटो और डबल टोनिंग बहुत प्रसिद्ध था।

ऑल इण्डिया रेडियो के अनेक केन्द्र 1945 के बाद से खुलना प्रारंभ

हो गए थे। फलस्वरूप वो कलाकार जो अपने शहरों में थोड़ा बहुत जाने जाते थे, आकाशवाणी के कर्मचारी हो गए और कभी-कभार उनके नाम भी सुनने में आ जाते थे (मेरा भी पहला कार्यक्रम लखनऊ रेडियो से 20 जुलाई, 1950 को हुआ था।) परन्तु रेडियो के इन छोटे-छोटे कार्यक्रमों को सुनकर उनकी स्वतंत्र वादन शैली का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता था। पटना के देवीदत्त चित्रकार का वादन मधुर था, परन्तु एकाएक कहीं लुप्त हो गए। सुनने में आया कि उनकी हत्या करा दी गई थी।

1950 में जब मैं एच.एम.वी. में नौकरी करने दिल्ली पहुंचा तो बाँसुरी के दो कलाकारों का नाम सुनने में आया। एक तो बम्बई में स्थित देवेन्द्र मुर्डेश्वरजी और दूसरा दिल्ली स्थित श्री विजय राघव राव जी का, जो उन दिनों शायद नेशनल आर्केस्ट्रा में थे। इन दोनों के वादन में मुझे खूब परिपक्वता लगी, परन्तु दोनों विलम्बित लय ख्याल का अनुकरण करते लगे। इसलिए मुझे इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि जिस गायकी शैली का निर्माण पन्ना बाबू ने किया उसी परम्परा को लेकर आगे बढ़ रहे हैं। देवेन्द्र जी तो पन्ना बाबू के दामाद ही हैं और उन्हीं की परम्परा को सुचारू रूप से आगे बढ़ा रहे थे। यद्यपि व्यक्तिगत छाप तो हर एक में अपनी-अपनी होती है, परन्तु मुख्यतः पन्ना बाबू की ही शैली में इस पीढ़ी के सभी वादक प्रभावित हुए, जिनमें अनेक नाम हैं और लगभग सभी का माध्यम आकाशवाणी ही रहा।

मैं भी 1955 आकाशवाणी लखनऊ से म्युजिक कम्पोज़र की हैसियत से जुड़ गया। 4-5 वर्षों का समय मिला, जिसमें तत्कालीन वंशी-वादकों और प्रसिद्ध सरोद एवं सितार वादकों एवं प्रसिद्ध गायक-गायिकाओं को समीप से सुनने का अवसर मिला। इनका प्रभाव कहिए या डॉ. रातंजनकर जी का सानिध्य, मुझे ऐसा लगने लगा कि वंशी पर केवल ख्याल का अनुसरण करके मैं स्वयं को लय के कौशल से वंचित रखता हूँ और आलाप भरके केवल मुखड़ा पकड़ लेता, क्या बड़ी अद्भुत बात है? शब्दों को कहने के साथ जो टोनल वेरिएशन कंठ-संगीत में आते हैं, वो वंशी में तो आ नहीं सकते। इस कारण मुझे लगा कि ताल-कौशल या अच्छे-अच्छे उपयुक्त स्वर अमुख लय में पिरोकर प्रस्तुत किये जाने का योगदान और गायकी के समन्वय की एक शैली प्रस्तुत करने का प्रमाण जो आज भी उपलब्ध है इस शैली को महत्व आज के युग में मिल राह है। दरअसल वादन शैली का वर्तमान रूप यही है। याने दो रूप/एक वो, जो केवल ख्याल का अनुसरण करते हैं और दूसरा वो, जो गतकारी या सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं। ये बात आप सभी वादकों में पाएंगे, चाहे वे बम्बई में हों, दिल्ली में या लखनऊ में।

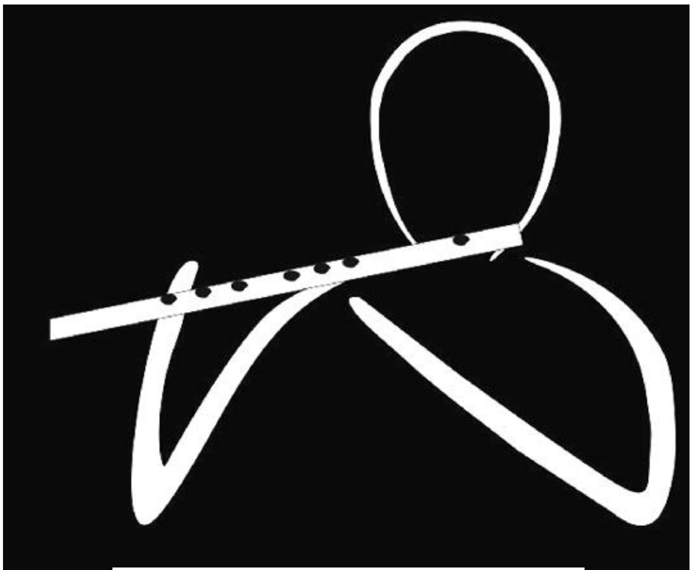

1948 में एक बार लखनऊ आकाशवाणी से प्रसारित वंशी वादन का कार्यक्रम सुना तो मैं स्तब्ध रह गया। ये आवाज़ स्वर्गीय पन्नालाल घोष की बांसुरी की थी। लगभग आधे घण्टे के इस कार्यक्रम ने मुझे ऐसा उत्साहित किया कि मेरी जीवन-दिशा ही बदल गई। पन्नालालजी वंशी पर ख़्याल गायकी बजाते थे। वंशी के युग प्रवर्तक वही थे।

भविष्य में समावेश

कोई भी इतिहास एक-दो वर्षों में नहीं बनता। इसी प्रकार वादन-शैली के विकास को भी नया रूप के पाने के लिए कुछ समय चाहिए। जिस प्रकार छोटी-छोटी घटनाओं से इतिहास बनता है। उसी प्रकार वादन में छोटी-छोटी, नई-नई बातों से जुड़ते जाने से विकास होता जाता है, जिसमें स्वर-माधुर्य, सर्वोत्तम फूत्कार ही परिभाषा, वंशी-वाद्य की व्यापकता सभी को एक नया दृष्टिकोण मिलता जाता है। हर एक कलाकार का अपना विशिष्ट योगदान है, जिसमें वादन में नए-नए स्वर समूह सम्मिलित होते जाते हैं। एक-एक तान बजाये जाते हैं और इस प्रकार वंशी का रेंज उत्तरोत्तर बढ़ता दिखाई देता है।

जैसे पन्ना बाबू मन्द्र सप्तक में तीव्र मध्यम तक जाते थे। आज शुद्ध मध्यम और गन्धार तक जाना सम्भव हो गया है। पंचम मध्यम भी। और अगर 'सा' की स्थापना बदल दी जाए। उसी वंशी में मन्द्र के 'सा' तक भी जा सकता है। आज के युवा कलाकार नए-नए प्रयोग कर रहे हैं, जिसके कारण भविष्य में नवीन के विकसित होने की संभावना है, परन्तु इसमें मुख्य योगदान रहता है, अवसर का, समय का, वाद्य का, और व्यक्तिगत साधना का। जिस प्रकार आज के युग में शास्त्रीय संगीत की अवतारणा के लिए उपयुक्त बड़ी वंशी बजाकर दिखाए तो परम्परा बदल भी सकती है और छोटी वंशी ही शास्त्रीय संगीत के लिए अधिक उपयुक्त मानी जाने लगे। मल्टी ट्रेक रिकार्डिंग सुविधा के कारण अनेक चमत्कार सम्भव होते जा रहे हैं और कम्प्यूटर में आवाज सैम्पल करके तैयारी को कृत्रिम रूप से रिकार्ड किया जा सकता है या स्वर स्थान बदले जा सकते हैं। फिर भी प्रारम्भिक ढंग से वादन शैली को नई दिशा पाने में थोड़ा समय लगेगा।

अभिनय इस अर्थ में एक असाधारण घटना है, कि वह असामान्य व दुर्लभ की श्रेणी में आने वाले मानव-व्यवहार को बड़ी सहज से सामान्य की परिधि में प्रतिष्ठित करता है। यह तथ्य इस अर्थ में ख़ासा दिलचस्प है कि कलाकार का अपना कुछ नहीं होता। न उसका यौवन होता है, न उसकी अवस्था होती है। बुढ़ापे में भी वह यौवन को प्रकट कर सकता है और भरे यौवन में भी उसका सम्मोहन कम करके दिखा सकता है।

नृत्य के परिसर में अभिनय

यतीन्द्र मिश्र

कलाओं के समाज में जितने भी प्रकार की प्रदर्शनकारी कलाएँ आज संस्कृति के परिदृश्य पर नज़र आती हैं, उनमें से अधिकांश की व्याप्ति उनके प्रदर्शन व अभिनेयता के कारण शीर्ष पर है। साहित्य के क्षेत्र में नाटक, संगीत के क्षेत्र में नृत्य एवं अन्यान्य रूपंकर अभिव्यक्तियों में सिनेमा का महत्व सिर्फ इस कारण ही ज्यादा बढ़ जाता है कि उन जगहों पर 'अभिनय' की असीम सम्भावनाएँ पायी जाती हैं। कलाओं की दुनिया में यह बात हमेशा से महत्वपूर्ण रही है कि उनके प्रस्तुतीकरण में सम्मिलित होने वाला समाज कितनी गहराई से उस कलाभिव्यक्ति के साथ अपना सामंजस्य बनाता है। कोई गायक गाते समय किसी राग की अवतारणा कर रहा हो या कोई नृत्यांगना किसी प्रसंग विशेष को अपने देह संचालन से मूर्त रूप दे रही हो, सामाजिक की भूमिका के बिना उस कला का संतरण सामान्य दुनिया में नहीं हो पाता है। कला के प्रदर्शन व उसके सामान्य जीवन में प्रतिष्ठित होने के बीच के अवकाश में ही संवाद, गायन एवं अभिनय की सृष्टि बेहतर ढंग से अपना स्वरूप ग्रहण करती है। सामान्य व्यक्ति, जो उस कला की दुनिया में एक 'सामाजिक' की हैसियत से प्रवेश पाता है, जीवन के सामान्य पक्षों का मंच पर अंकन होते देखकर ही कला के पड़ोस में जाने को इच्छुक होता है।

अभिनय इस अर्थ में एक असाधारण घटना है, कि वह असामान्य व दुर्लभ की श्रेणी में आने वाले मानव-व्यवहार को बड़ी सहज से सामान्य की परिधि में प्रतिष्ठित करता है। इसके लिए कलाकार या साधक की भूमिका सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण होती है। यह तथ्य इस अर्थ में ख़ासा दिलचस्प है कि कलाकार का अपना कुछ नहीं होता। न उसका यौवन होता है, न उसकी अवस्था होती है। बुढ़ापे में भी वह यौवन को प्रकट कर सकता है और भरे यौवन में भी उसका सम्मोहन कम करके दिखा सकता है। यह अनुभव करने की शक्ति ही कलाकार में दिव्यता लाती है। इसी से रस सृष्टि होती है और इसी से कला का संसार विस्मयकारी जान पड़ता है। इस अवधारणा के पीछे तर्क बस यही है कि कलाकार अपने वाणी, व्यवहार, लास्य, अंग-संचालन एवं संवाद-अदायगी द्वारा अपनी देह में एक दूसरी ही सृष्टि का अनुभव करता है मसलन नृत्यरत ओडिसी गुरु केलुचरण महापात्र में रामकथा के केवट का प्रवेश, थोड़ी देर के लिए उन्हें न सिर्फ केवट की देहयष्टि में स्थापित कर देता है, बल्कि देखने वाले केलुचरण महापात्र से तादात्म्य बिठाते हुए केलुचरण महापात्र से दूर हो जाते हैं। दर्शक के लिये जहाँ यह केवल एक विस्मयकारी कला का निदर्शन है, वहीं कलाकार के लिये यह परकाया प्रवेश जैसी अवधूत प्रक्रिया है, जिसमें अभिनेयता ही रूप-परिवर्तन के लिए मुख्य आधार-पीठिका मुहैय्या कराती है।

एक सर्जक अपनी कला के अवयवों को खोलकर, उसकी सीमाओं और सीमान्तों को परे हटाते हुए अभिनय द्वारा कृति को जितना सरल करेगा, सामान्य दर्शक या श्रोता उसके साथ साधारणीकरण करते हुए स्वतः ही उस कला से संवाद स्थापित कर लेंगे। जिस तरह अभिनय के लिये पर्याप्त नाटकीयता की जरूरत हती है, उसी तरह किसी कला के साथ दर्शक या सामाजिक का संबंध उसके साधारणीकरण से तय होता है। एक सुन्दर प्रसंग यहाँ आप सबको सुनाना चाहूँगा- बनारस की ठुमरी विश्वप्रसिद्ध है। वहाँ गायकी की जो परम्परा है, उसमें सेनिया पियरी, मिश्र एवं तेलियानाला जैसे घराने रहे हैं। सभी में ठुमरी, कजरी एवं चैती का अपना अभिनय महत्वपूर्ण रहा है। एक ख़ास बात यहाँ ध्यान देने लायक है कि 100-150 साल पहले यदि हम बनारस में होने वाली इस प्रकार की गायक का विश्लेषण करें तो पायेंगे कि वहाँ विद्याधरी, बड़ी

मोतीबाई, मुश्तरी, मैना से होते हुए रसूलनबाई, सिद्धेश्वरी देवी एवं गिरिजा देवी तक ठुमरी की परम्परा अपने उत्कर्ष पर रही है। मगर उसी के बाद की परम्परा में जिसमें अधिकांश पूर्ववर्ती गायिकाओं की शिष्याएँ भी सम्मिलित होती हैं, आज यह बात या उत्कृष्टता कहीं दिखाई नहीं पड़ती। वही परम्परा है, वही धुन है, बोल-बनाव व रागदारी का मिजाज सब कुछ पूर्व की भाँति है, मगर गायकी की ऊँचाई या इन पूर्वज गायिकाओं के असर या रस जैसी कोई चीज़ आज की गायकी में दिखाई नहीं पड़ती। इनके पीछे क्या कारण हो सकता है? इस तथ्य का उल्लेख जब मैंने गिरिजा देवी से किया तो वे बोलीं- 'यह तो होगा ही। यह चीज़ जो आप हमारी पीढ़ी तक देखते चले आये हैं या पीछे पूरी प्रखरता से हम अपनी पूर्वज पीढ़ी से पाते रहे, उसके पीछे सबसे बड़ा कारण पुराने समाज में होने वाला महफिल संगीत था। दरअसल, ठुमरी, चैती राजा-महाराजाओं, नवाबों, रईसों के यहाँ महफिलों में गाई जाती थी। उस महफिल संगीत का एक अलग समाज था, उसका एक निश्चित रिवाज था कि बैठकी महफिल में इस तरह के कपड़े पहनकर आना है, या पेशवाज का रंग अमुक जलसे के मुताबिक होगा। हम सबको थोड़ा बहुत अभिनय भी करना पड़ता था कि हमारा मन फलाँ कजरी गाने का है या कि बड़ी-बड़ी गायिकाएँ अपने नखरे व हाव-भाव से असम्भव चीजों की फरमाइश करती थीं। सामने बैठे लोग महफिल की इन्हीं रंगीन हरकतों पर झूम-झूम जाते थे। फिर मिजाज और फरमाइश के अनुसार उस समय ठुमरी, कजरी भी गाई जाती थी, और होली, दादरा भी। अब वो कहाँ रहा? मेरी कोई शिष्या कितना भी बढ़िया ठुमरी, चैती गा ले फिर भी हम वह महफिल कहाँ से लाएँगे? वह रियाज के लिए बैठेगी तो अक्सर आधुनिक कपड़ों जींस वगैरह में होगी। बात यह नहीं कि उस समाज को सिर्फ विलास की निगाह से ही देखा जाए। तो जो एक तरह का वातावरण उस पूरी महफिल में अभिनय व पहनावे के कारण बनता था वह आज की नई लड़की कहाँ सीख पाती है। वह मिजाज बनाने व अदब सिखाने का रिवाज़ अब खत्म हो चुका है। आज एक निश्चित मानसिकता के साथ लड़कियाँ मंच पर जाती हैं व कुछ भी गा देती हैं। तो रसूलनबाई वाली तड़प कहाँ से पाइयेगा, आप उनकी गायकी में?

अब यह विचार उस जमाने की गायकी के बारे में प्रकाश डालता है कि कैसे ठुमरी व चैती के गायन में उन दिनों रंग भरा जाता था। यह महफिल की तैयारी दरअसल उन दिनों अभिनय की तैयारी होती थी। बैठकी करना रंगमंच पर पूरे श्रृंगार के साथ मनोभावों का नान्दीपाठ करना था। अब श्रोता और दर्शक तो हर हाल में उस मोहजाल में फँसेंगे। कि अब वो गायकी नहीं रही। रसूलनबाई, मुश्तरी, मैना उनके लिये उस क्षण किसी मिथक से कम नहीं ठहरेंगे व अभिनय तथा अभिनेयता की गुंजाइश को इन सन्दर्भों से भुला बैठेंगे कि किस तरह उसका प्रभाव संगीत में नई-नई उपज की सम्भावना पैदा करता है।

इसी तरह ठीक यही प्रतिक्रिया ओडिसी नृत्य में उन नये कलाकारों एवं युवतियों के साथ आज आती है जो अविवाहित रहते हुए 'गीतगोविन्दम' या अन्य प्रेमकाव्यों के प्रसंगों, श्रृंगारभक्ति के द्वारा अपने नृत्य में अभिव्यक्त करना चाहते हैं। उनके लिए शास्त्र और कला कितनी ही तैयार की हुई चीज़ क्यों न हो, वे रागों व अष्टपदियों की व्याख्या के लिये भले ही पक्की तरह से तैयार हों, मगर अभिनय के समय उस रससृष्टि को करने में अक्षम होंगे, जो उनसे पूर्व या उनके समकालीन विवाहित कलाकारों ने अपने अनुभव की गहराई से विकसित की है। इसी तरह भास के नाटकों पर आधारित 'कुडियाट्टम' रंग-नृत्य परम्परा को जिसने भी देखा है, वह सिर्फ उसमें होने वाले नेत्रों के अभिनय को शायद ही जल्दी भूल सकेगा। वहाँ दो-दो दिन तक लगातार संवाद अदायगी चलती है और घण्टों तक नेत्रों का अभिनय देखते हुए भी दर्शक थकते नहीं हैं। यह स्थिति अभिनय की महत्ता का सबसे बेहतर उदाहरण है कि कुडियाट्टम आज भी जिन जगहों पर खेला जाता है, जिन जगहों पर अपनी परम्परा का निर्वाह करते हुए जीवित है, वह सिर्फ और सिर्फ आज तक अपनी अभिनेयता के कारण ही टिका हुआ है। असम और बंगाल की रामयात्राएँ और चण्डीयात्रा में यह तथ्य पूरी तरह देखने में

उभरता है कि अपनी परम्परा व लोक के अनुसरण के साथ-साथ जात्रा साहित्य में ढेरों पाठ भेदों के अन्तर्विरोधों के बावजूद जो समन्वय पूरी जात्रा में दिखता है, वह उन अनभिज्ञ कलाकारों की अभिनेयता पर उसी तरह टिका हुआ है, जिस तरह हर प्रान्त की लोक-गायन शैली में औरतें रसोई का काम करते हुए यह भूली रहती हैं कि वे चूल्हा जलाने के साथ-साथ हंसध्वनि और पटमंजरी भी जानती हैं। उन्हें पारिवारिक परम्परा में भी कई पीढ़ियों तक यह पता ही नहीं चल पाता कि पर्व त्योहारों, शादी-ब्याह आदि के समय जो आनुष्ठानिक प्रसंगों के गीत या संस्कार-गीत वे सीखती, गाती अथवा सिखाती रही हैं, उनका भी अपना काव्यशास्त्र है, संगीत की ज्यामिति है तथा उनमें भी अधिकांश अब जस का तस शताब्दियों से गाये जाने के कारण प्रचलित अर्थों में लगभग रूढ़ बन गये हैं।

ढेरों प्रदर्शनकारी कलाएँ, खासकर नृत्य आदि के असंख्य विभेद, जिनमें प्रमुख रूप से लोक नृत्य, ऋतु नृत्य, श्रम नृत्य एवं युद्ध नृत्य शामिल हैं, अपनी इसी लोकाराधन अभिनेयता और शास्त्रीय पक्षधरता के समन्वय के चलते आज भी समकालीन सन्दर्भों में प्रासंगिक बने हुए हैं। यह न हो, तो यह स्पष्ट कर पाना बेहद उलझाव भरा काम होगा कि तेरा 'ताली नृत्य' में झाँझ के ताली की तरह बजने की क्या उपयोगिता है या कि 'चुर्कुला' में किस प्रासंगिकता के चलते जलते हुए दीयों को सिर पर रखकर नाचा जाता है। चुर्कुला और तेरा ताली की तरह भारतीय लोक नृत्यों में मशहूर कुछ अन्य नृत्यों मसलन बैगा जनजाति का पतझड़ के मौसम का नृत्य 'बिल्मा', उड़ीसा का ऋतु-नृत्य 'चैती घोड़ा नाटा', केरल का युद्ध कौशल दर्शाने वाला लोकप्रिय नृत्य 'कलरिपयत्तू' एवं आनुष्ठानिक नृत्यों में सर्वोपरि माना जाने वाला मणिपुर का 'लाइ हरोबा' को हम उनकी शास्त्रीयता, अभिनयधर्मिता एवं लोक वैशिष्ट्य के कारण हमेशा याद रखते हैं।

अन्त में सिनेमा पर पारसी थियेटर के प्रभाव की पड़ताल करने वाला एक दिलचस्प वाक्या यहाँ उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत है, जिसे प्रख्यात लेखिका मृणाल पाण्डे ने रेखांकित किया था। यह उदाहरण सिनेमा के आरम्भिक दिनों की दिलचस्प बानगी पेश करता है, साथ ही साथ इस बात की भी गवाही का संबंध बनता है कि रूपंकर कलाओं की अधिकांश अभिव्यक्तियाँ अपने अभिनय एवं लोक पक्ष की समेकित धुरी पर टिकी होती है। प्रसंग है- कलकत्ता से लेकर दिल्ली की कम्पनी तक अनेक थियेटर कम्पनियों के नाटकों में स्त्री का अभिनय कर चुके एक चर्चित अभिनेता मास्टर 'चम्पालाल' के अनुसार थियेटरों में महिला का अभिनय करने वाले तरुणों की एक अच्छी भली तादाद हुआ करती थी। उन सभी को एक कड़ी साधना तथा रियाज़ से गुजरना होता था, जिसके बिना वे सफलतापूर्वक स्त्री नहीं बन सकते थे। उनसे की गयी लम्बी बातचीत के दौरान यह स्पष्ट हुआ कि तत्कालीन समाज तथा रंग-संस्कृति में स्त्री होने का मतलब स्त्री के रूप में जन्म लेना नहीं, बल्कि समाज द्वारा सायास दर्ज़ की गयी तथा स्वीकृत उस 'स्त्री-वृत्ति' को आत्मसात करना था, जिसके अन्तर्गत एक ख़ास प्रकार की वेशभूषा के अतिरिक्त ये सभी आंगिक, वाचिक तथा आहार्य मुद्राएँ और नाज-नखरे भी आते थे, जिन्हें आज भी स्त्रियोचित कहकर बखाना जाता है। बाल-गन्धर्व जैसे कुछ अभिनेताओं ने तो इस सामाजिक रूढ़िबद्ध स्त्रीत्व को ऐसी सुथराई के साथ धारण किया था कि भले घरों की बहू-बेटियाँ स्त्रियोचित वेशभूषा तथा उठने-बैठने के तौर-तरीके सीखने के लिए उनके नाटक देखने आया करती थीं।

यह कुछ-कुछ वही तरीका है, जिस तरह की मनोवृत्ति की ओर ठुमरी गायिकी की महफिल संगीत को गिरिजा देवी ने जरूरी माना था या ओडिसी और भरतनाट्यम करते समय उसके कलाकारों को रति प्रसंगों को दर्शाने में भारी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है, यदि वे परम्परागत ढंग से विवाहित नहीं है। 'रामजात्राओं' से लेकर 'कलरिपयत्तू' तक तथा 'भांगड़ा', 'झूमर' से लेकर 'छऊ' नृत्य तक यही अभिनेयता एवं लोक संस्कृति का व्यवहार प्रभावी रहा है, यह और बात है कि हम आज उनमें तमाम प्रकार के नवाचार करते हुए कोई नयी नृत्य विधा का गायकी का प्रकार विकसित कर लें। फिर भी उसमें उस पारम्परिक कला के आरम्भिक तत्व उसी तरह सक्रिय रहेंगे, जिस तरह वह नयी विकसित हुई कला अपनी नयी काया में एक दुर्लभ किस्म का चाक्षुष या वाचिक आनन्द देगी।

दमचाक घहराते बादलों की घटाएँ हैं। लटालूम लटें हैं जो प्रतिबिम्बित हो रही हैं। उड़ती-उड़ती एक बदली आई और घाटी पर जरा बिलम गई है। विचारों की निमग्नता में है। यह ध्यानस्थ मुद्रा तो होती है लुट जाने के लिये। तो बरस पड़ती है। तार के तार उतर रहे हैं। सूत के धागे से महीन रेशे-रेशे हैं कोमल भाव जगाने वाले। तो तरबतर हो रही है विंध्याचल की चट्टानों की भावभंगिमा। हाँ, गमनागमन की रोशनी आ गई है इन सूत के कोमल धागों के बीच। अहा! है न परमप्रकाश। पत्ते-पत्ते लहर-लहर लहरा रहे हैं। कल्ले-कल्ले चिलकायमान हैं। इधर जो घट रहा है। इधर पोशाक सिली जा रही है उधर लाली से सिंगार हो रहा है। इधर घुँघरू पहनाये जा रहे हैं। उधर मुकुट पहचाना जा रहा है। इधर ढुलकिया ठनक रही है। उधर ध्वनि 'धुनक' रही है। इधर 'पाठ' चल रहा है उधर रासलीला।

अद्भुत! अद्भुत! आलोक में डूबी हैं घाटियाँ। और तीसरे पहर की अंधियारी है। तो घुप्प अँधेरे में घाटी की मोड़-घोड़ में खंदक खाई में उछलते कूदते झरने निनाद कर रहे हैं। झूलते लहराते तरूवर नीरांजना कर रहे हैं। टूटती चट्टानों की कनी-कनी बह चली है। 'कन-कन' तो पानी-पानी होकर नर्मदामय होना चाहते हैं। तो विंध्याचल बस! एक वक्र रेखा भर रह गया है। टेढ़ी-मेढ़ी रेखा के भीतर-भीतर रहस्य रोमांच की दुनिया बसी हुई है। पर! थोड़ी ही देर में घुप्प स्यामली चादर फैल गई। बादल फूटपड़े। पहाड़ की सारी बीट एकाकार हो गई। बस! एक अदृश्य आलोक में समा गई। वह रेखा भी अब लुप्त हो गई। घोड़ा सफील घाट से देख रहे हैं पल्लेपार उत्तर तट पर अब कोई पहाड़ है ही नहीं। तो जादू की चादर से पहाड़ को ढक देने का करतब तो 'तारनहार' ही कर सकता है। तो उमदा पहर पहर के 'रूप' को देख रहे हैं। उमचा रहे हैं। पल्लेपार और ऊलेपार।

और उधर अँधियारी चमकते हुये रेत के खेत को ढकती जा रही है। धीमी धीमी सुगबुगाहट है। रेत के ट्रक से पटिया गिरने उसे ठोंकने पीटने की आवाज़ आ रही है। जुगनू उड़ उड़कर अँधेरे की छाती को चीर रहे हैं। बस! सुनसपाट का पहरा है। जल में नाने-नाने टापू भी अनमने हो गये हैं। ऊँघने लगे हैं। पूरब में बांद्राभान की मोड़ से नावड़िया लौट रहे हैं। विंध्याचल के बुधनी घाट से उतरते वाहनों का प्रकाश तो चट्टानों पर लगे काजल को प्रकाशित कर रहा है तो माई के जोशीपुर घाट से बाजार हाट करने आई सवारी भी पल्लेपार उतर रही है। और उत्तर तट के प्रकाश स्तम्भ की छायांकित चिलक ज्योतित हो रही है। भला! तैरने वाले गोता लगाने वाले उस ज्योति को पकड़ने की कोशिश में हाथ मलते रह गये। 'मन' का कोई 'थाव' नहीं है पर भेद जानने वाले हताश हैं 'गल' निकाल रहे हैं। माई तो घाट-घाट के 'गल' को धो रही है। पल्लेपार उत्तर पूरब में पल्लेपार बघवाड़ा की पहाड़िया पर बौछारें गिर रही हैं तो बिजलाव की चमक से बीच धार में अड़ी चट्टान पर बैठी जलमुर्गी दिखाई पड़ रही है। मानों अभी वह उथले जाये। पल्लेपार से कुल्हाड़ी की ठक-ठक की ध्वनि से डरे सहमें पक्षियों के झुंड हमारे दक्षिण तट के पीपल

पहर-पहर की सिंगारी

नर्मदा प्रसाद सिसोदिया

नीरांजना हमारे दैनिक क्रिया कलाप का अभिन्न अंग बन जाती है। वह हमारे दिन भर की सिद्धी को रच देती है और भविष्य की नींव साकार होती है। हिया के अंदर घंटी बज रही है टुन! टुन! बस, बजती रहना चाहिए। गोरज की सिंगारी जल पर तैर रही है तो मन उमग रहे हैं।

पर लौट आये हैं। थोड़ी ही देर में इधर नगाड़े बजने लगे। रिमझिम रिमझिम आ गई बरसात। सारा घाट हवा की सरसराहट से सचेत हो उठा। कोई पीपल की ओट में, कोई बट की गोद में। और छतरी वाले तने तनाये रिंगते जा रहे हैं। बूँदा-बाँदी में वंदना का दीया तैर रहा है। झंडियाँ फहर रही हैं। आरती की थाली में कांच की पाई के बीच दीपक झिलमिला रहा है तो भावना का यह छोटा सा यत्न ही सुनामी से लड़ने के लिये संबल बना हुआ है और जो 'सुगवुगाहट' जल पर तैर रही है थल पर धूम मचा रही है हवा में 'सनसनी' भर रही है उससे 'पार' पाने के लिये वातावरण में 'सनसनाहट' तो बस उस झिलमिलाते दीपक की लौ ही भर रही है- ''सब नदियों का जल और पानी तुमरो जल अमृत महारानी।''

कुहरा छाया है कम्बली उरेही गई है पर घड़ी दो की अड़ी थी। सूरीमल ने अस्ताचल जाते जाते कुंडी खोली कम्बली उघाड़ी कि सामने फिर झकाझक पहाड़ी थी अनाड़ी मौसम तो ऋतु के भूगल में बिना बुलाये हरकबी चला आता है। मूर्त अमूर्त रूप तो पल-पल सिरजते रहते हैं। गोधूली की आहट धुपकली के बीच सूत के धागे जल पर उतर रहे हैं। रंगरेज ने सात रंगों का इन्द्रधनुष तान लिया है। संध्या चौक पूर रही है। अहा! क्या सुंदर दृश्य है।

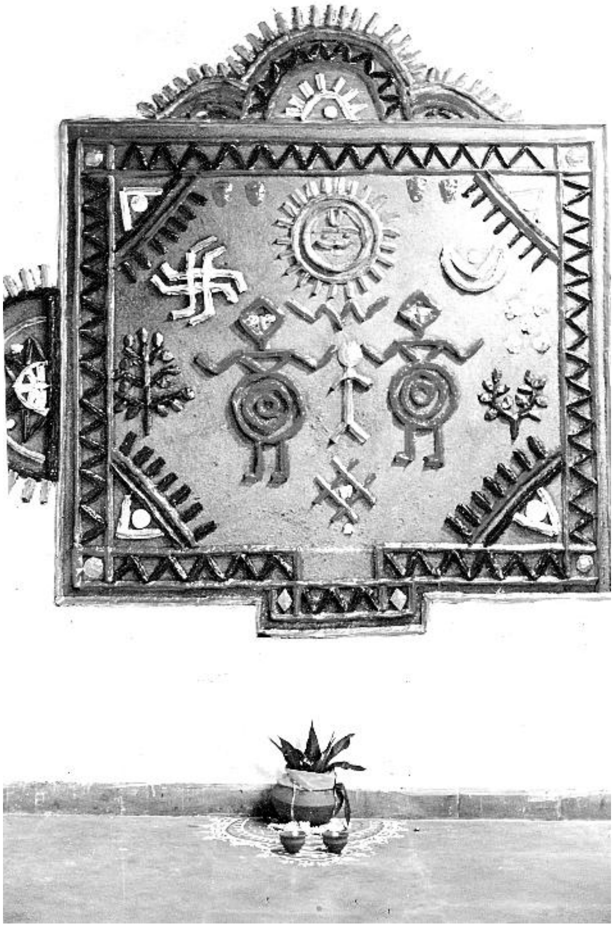

पहर पहर में नवीन कामना की जोत जल रही है। जीवन की निरन्तरता की कामना हेतु लोकमंगल के अनुष्ठान तो हर समय में समादृत रहे हैं और देख ही रहे हैं कि लोक रस से घाट भीग रहा है।

और अब संजा का चौका चूल्हा उरक गया है तो गोदड़ी में धागे डाले जा रहे हैं दिरानी जिठानी नंद भौजाई उसारी में बैठी हैं। सोता पड़े तक मन बिरमाये जा रहे हैं। 'जी' हल्का हो रहा है। आँगन में बादलों की किरपा बरस रही है। बैठक में खाकर की जड़ों से बक्कल निकाले जा रहे हैं तो रस्सी अमेठी जा रही है। बतिया रय हैं- ''भैया सारे नदी नाले एक हो गये।'' तो सारी रात ओलतन की रिग रिगी लगी रई। फूटे कबेलू की धुपकली की सरल रेखा के सुराख तो अब 'टपका' हो गये हैं। सरल रेखा तो सुहानी थी। हुश्यार करतीं सुभाषित थीं। और 'टपका' की 'कपकपी' में 'कटाले' खड़े हो रय। टटेरा से हो गये हैं। आले-तीले में चौका चूल्हा तक ओल चढ़ आई है। थके हारों की नींद तो उनकी मुट्ठी में होती है। पर, फिकरी है 'जीमें। नींद तो फिरकनी हो गई है। ढिबरी की लौ रात भर टिमटिमाती रही है। पल्लेपार सियार 'हुक्की हुई' की पुकार लगा रहे हैं उजाले छित तक टपरिया में अँधियारी घिरी है। भुनसारा होने की रस्ता देख रहे हैं।

तो उजालेफट की गैल चल रही है। उपरोस के 'बरगी बारना' और पड़ोस के ही तवा बाँध की किबाड़ी की कुंडी उसकार दी है। तो जल उलरकर आ रहा है। और साथ में आ रही है पत्तों, बेलों, लकड़ियों लिबाटियों और धौले-धौले मटमैले फसूकढ़ और चोई की 'अलोनेपन' से भरी नाव। रेल की रेल चली जा रही है। हाँ, थमे हुये जल में थुल थुलापन होता है भीतर-भीतर सिकुड़न भर जाती है। और गति मिलती रहती है तो 'अगुन' छटते जाते, 'गुन' जुड़ते जाते हैं। अहा! घोड़ासफील घाट से भड़ौच तक निचरोस के घाट-घाट के दर्शनार्थ तीर्थयात्रियों की रेल जा रही है। 'रेल चली रे रेल! समुन्दर में 'लोन' बनाने जा रही है। उल्लास और उमंग के झूले चल रहे हैं जल पर। आज घाट के युवावट वृक्ष की टहनियों को छू-छूकर जल बह रहा है। भीगने ठिठुरने से बचने के साधन हैं तो छतरिया ताने ही देखने वालों की भीड़ उमड़ पड़ी है। पल्लेपार भोले-भाले 'भील' वनवासी तो सगोना के पत्तों से सिर ढकाई कर रहे हैं। झोर-मोर, झोरे-झोरे देख-देख झुरिया गये हैं। विंध्याचल तो अपेन कुटमारे के कारुआँ में कुकड़ मुकुड़ होकर ठिठुर रहा है।

चौमासा में माई तो भीतर-भीतर गुनती रहती है। विंध्याचल से सहायिकाएँ ले आई हैं गुन। और गोल मटोल सिलबट्टे। लुढ़कते उलटते पुलटते वे अब 'सालकराम' हो गये हैं। कंकर-कंकर शिवशंकर हो गये हैं। तो गोल-गोल भँवर में नृत्य लीला करते-करते चलते जाते हैं। आधी रात में सुन्न के पहरे में शैलों पर शिल्प का प्रकीर्णन चलता रहता है। थो फिर चट्टानों से उछलते कूदते ही कूप कंडियाँ गिरजती। भीतर-भीतर सुराख बनते हैं। सुर से सुर मिलना चाहिए न। जुड़ना चाहिए ना। हाँ, पोला पत्थर पूजनीय हो गये हैं। बस! कण-कण को जोड़ती है। मथती-मथाती है। बीनती चुनती है। फिर धुली धुलाई छनी छनाई मखमल सी रेत की खतानें भरी मिलती। और फिर मोटी-पतली, बालू-बजरी। किसिम किसिम की चिज्जू है माई के खोला में।

हरी जिरोती है। माई से ही सीखी है जिरोती माँडना। तो कोला (दरवाजा) पर नाग, सरवन, माण्डे जा रहे हैं। 'ॐ' और स्वास्तिक की

रचना हो रही है। तो पल्लेपार देवास, विदिशा, रायसेन के काबड़िया घाट पर झारी भरने आए हैं। 'अभिषेक' करने पचमढ़ी जा रहे हैं। बुचका झोली की पोथी को उमचा रहे हैं। अपनी पगडंडी में पानगुराड़िया भीमबैठका तालपुरा की शैलों में उरेहे शैलचित्रों को देख रहे हैं वे तो शैलों पर अपने पुरखों के अभिषेक को चरितार्थ कर रहे हैं और पचमढ़ी की शैल गुहाओं को संवारने हेतु शिव को मनाने जा रहे हैं।

शुभ यात्रा से घर आये हैं मगर हो रहे हैं 'ओ! पोला आई तो पानी गेला' खेत हार में मेड़ खोड़ में कांसफूल रहे हैं तो धीरे-धीरे बादल छट रहे हैं। काबड़ में जुताई बुआई चल रही है। पगडंडियाँ उछल आई हैं। हिया में हलूर उमड़ आई। कछार में कल्ले फूट रहे हैं कगरिया पर कलई चढ़ रही है। शरद का चाँद उतर आया है जल पर। कल कल धाराएँ उमग रही हैं पाट पर कली कली खिल गई है अस्तर पर कली चढ़ रही है। पीलापन छूट रहा है मटियार तली में बैठ रही है। पानी तो साफचट है। हाँ, मैल छटने पर ही निर्मलता आती है। सिद्धि की तो निर्मल 'घड़ी' होती है सो हिरनी ठेक आ गई। दूधिया धार हो गई। भुनसारी रात ओस गिर रही है तो उपरोस तक ओल चढ़ आई है। उमगती दूब पर बुँदियाँ ठहर गई है। ओ! ठहर गई है भोर की रंग रेखाएँ। चगनमगन बुँदियाँ पर चंचल मन ठहर गया है।

पर, समय कहाँ ठहर पाता है दिन चढ़ आया है दुफरिया है धूप तो छाती थप थपा रही है सूरज माथे पर है जल तो पारदर्शी हो गया है। छिछली धाराओं में रेत की पतली परतों की उजास साफ दिख रही है। तो कजी छायी पकी पकाई चट्टानों की श्यामली रूप रे भी जल पर उभर आई है। हाँ, जलरंग में रंगी चँगी ये चीजें तेजोमय हो गई हैं और जहाँ गहरा जल है वहाँ नीले आवरण की धारा है मानों वे अपने अंदर मछलियों को पाल पोस रही हैं वे तो पालनहार हैं। तो सहारक भी अड़घाट ताँत में बंधे गल में आटा चिपकाकर उन्हें फँसाने के प्रयास में टों निमग्न रहते हैं और पल्लेपार रेत की रावटियाँ तन गई हैं। रीतने का प्रयास चल रहा है। और ऊले पार की रावटी में यात्री अपने स्वर्गवासी माता-पिता का दशाकर्म करा रहे हैं। खालीपन को भरा जा रहा है और शीत तो दिया कुल्या भर रही है। अलाव तो हिया में हूप भर रहे हैं।

तो देवउठनी ग्यारस की झुपड़िया पूजा हो गई है तो बुचका झोली लिये परकम्मावासियों की टोलियाँ किनारे की पगडंडियों से निकल रही हैं। पल पल में चित्र बदल रहे हैं। उन्हें आँखों में बसाना हो तो हिरदा की आँखें खोलना चाहिए वरना ओझल हो जाते हैं। बैतूल और छिंदवाड़ा से आए हैं यात्री। माताओं ने बेटों के लिये सोमवार का ब्रत किया था उपवास खोलना है तो सपड़कर सलकनपुर जाएँगे माता के दर्शन करने। दिया तो जल रहे हैं। पहर पहर में नवीन कामना की जोत जल रही है। और अब घाट पूजने आई हैं माताएँ बहनें। गोल-गोल गोबरल के घेरे बनाये हैं। चौक पूरा है। लोकरीति से पूजा पाठ हुई है। तो जलकलश की गगरी भर कर ले जा रही है बहू बेटियाँ। जीवन की निरन्तरता की कामना हेतु लोकमंगल के अनुष्ठान तो हर समय में समादृत रहे हैं और देख ही रहे हैं कि लोक रस से घाट भींग रहा है। उमगाओं है। कूँ-कूँ छिंटककर फिर हाथ में पल्लू पकड़कर धरती माता की वंदना की गई है। फिर छोटी-छोटी कोरी कुरकई में कगरिया से माटी के ढेले उरेले गये खनमट्टी की टुकनियाँ का रेला चल चला जा रहा है घर की ओर। और फिर माता पिता कूँ कूँ पत्रिका देने आए हैं। हाथ जोड़कर नेह निमंत्रण देने आए हैं- 'म्हारा घर पधार जो माई, म्हारो कारज सारजो माई, बेटी को ब्याह छे माई।' खुशी के आँसुओं का सोता फूट रहा है। लोकरंग की छबियाँ जल पर तैर रही हैं।

पल्लेपार अमराई में मंडुआ की थूनी खड़ी हो गई है। बसंत का डेरा आ गया है बौर के गुच्छे झूल रहे हैं। भौरों की टोलियाँ पंचकोशी कर रही हैं। हाँ, पहाड़ की गुफा घराने में सुर साधने में लीन कोयल की 'कूक' पुकार रही है। कह रही है- 'घाटिया की मोड़ घोड़ में महुआ टिप टिपा रहे हैं।' तो सगुन जानने वाले चल पड़े हैं पीले बदरा से टुकनिया लिये। पेड़ों की गोड़ में पत्तों की बिछात पर गिर रहे हैं। करनफूल। मदमाती गंध है झाड़ झुरमुटों के बीच। सूखे पत्तों पर रिंगते रिंगते बीनते चुनते हैं। यह 'आहट' शांत वनप्रदेश की घोड़-मोड़ घाटी नाले, बेदरा, खंदक, खाई सघन पेड़ों के गहरे अंधकार को चीर रही है। तो थोड़ी देर के लिये ही खोह, कँदराएँ, बिल, घोंसले, माँद गम्भीर हो जाते हैं। बस! पेड़ों की लमतोरी छाया से 'पहर' गुन रहे हैं। सगोना के पत्तों की गोल-गोल चोमल बनाई है। कोमल सिर पर कठोर भार को सहने की सरल मशीन है ये। पर वे तो सदियों से सहते आ रहे हैं शोषण के भार को। तो चोमल पर मोली रखे हैं और काँख में महुआ की पुटलिया। और अचार, आँवला, बेर, रैनी खोला में भर लिये हैं। 'भय' को भीतर-भीतर डुरयाते-डुरयाते घाट से उतरकर गाँव की ओर चले आ रहे हैं। पर 'भय से परे' 'अनाहत नाद' को सुनने-गुनने वाले उन अदृश्य ऋषियों की यह पुण्य भूमि में शांति पाठ चल रहा है।

हाँ, शान्ति काल में चौरतरफा 'जय जयकार' होती है। सो लोकमंगल का पीला पाक फिर गया है खेतों में। ओ! बड़े-बड़े हारवेस्टर चल पड़े हैं। इक्के-दुक्के खेतों से ही बड़ी बैलगाड़ी में गेहूँ की पूल आ रही है मशीनई-मशीनई घूम रई कछार में, काबड़ में, खेड़ा, टेकरा, सैरा में मूँ झाकले तक। चैत तो बस! चार दिना को है। हबड़दबड़ लगी है तो खेतों में नरवई धूँ-धूँ जल रही है। जल रहे हैं

गाँव के गाँव और खेतों में अटे पड़े गेहूँ के दाने। जी उड़ गयेथे मनो हवा पलट गई तो खड़ी फसल बच गई। उनके जी' में जी आ गये। पर, कौन नेवरे होकर उठा रहे हैं पाँच दाने। समय का फेर है एक दिना वो थो कि गुबरेले गोबर से दाने-दाने धो लेते थे। अब तो रखवे की जगो नई है नर्मदांचल की बिन्दा बुखारियों में। खुले पक्के चबूतरों में तिरपाल की ढका कराई में चौमासा बीता है अन्न देव का। तो दिन याद है- पेज पानी महेरी, नेगरी, दलिया और कानी कोचरी तुअर और झेंझरु की टापली निगली है। हाँ जी' काट काटकर सयाले के दिन कटे हैं। और अब सयाला सर-सर' कट रहा है

उढाले को समैया सिर पर है। उमस भरी रातें हैं। लपट की दुफरिया है। लू से भीतर-भीतर तप रहे हैं। झकर लग गई है जी' घबरा रहे हैं। बस! बीट की परिक्रमा हो रही है समोच्च रेखाएँ देखी जा रही हैं। नक्शे में लपेटे जा रहे हैं। भला दिन में तारे कहाँ दिखते हैं। वैसे ही लालचट लौ लपटों की रंग रेखाएँ तो साँझ होते-होते घोड़ासफील घाट से दिख रही है। दर्शक तो सीढ़ियों पर बैठे बैठे आगबबूला हो रहे हैं, आपत्ताली बेटों से माई तो अच्छे से कँदरा गई है।

सूरज धीरे-धीरे उतर रहा है। चिलक उतर आई है जल की सतह पर। पिलझाई फैल रही है धाराओं पर। पिरोना भर दिन बचा है तो किनारे-किनारे से ग्वालटोली के गोपाल गायों को हाँक लगाकर घर लौट रहे हैं। गोधुली है न। गोया गढ़वाट की रंगधुलि का का गुबार कगरिया पर उड़ रहा है। धूल धूसरित गोपाल के माथे पर गुलाल चमक रहा है। दुधारू गाय के गले में हिलती ढुलती घंटियाँ हलर-डुलर करती

> "चौमासा में माई तो भीतर-भीतर गुनती रहती है। विंध्याचल से सहायिकाएँ ले आई हैं गुन। और गोल मटोल सिलबट्टे। लुढ़कते उलटते पुलटते वे अब 'सालकराम' हो गये हैं। कंकर-कंकर शिवशंकर हो गये हैं। तो गोल-गोल भँवर में नृत्य लीला करते-करते चलते जाते हैं। आधी रात में सुन्न के पहरे में शैलों पर शिल्प का प्रकीर्णन चलता रहता है। थो फिर चट्टानों से उछलते कूदते ही कूप कंडियाँ गिरजती। भीतर-भीतर सुराख बनते हैं। सुर से सुर मिलना चाहिए न। जुड़ना चाहिए ना।"

कंदरा रओ है। दूर बघवाड़ा घाट तक धौलीफट लौ चलायमान है। वह तो सपना भर है। सच्चाई तो यह है कि नदी सरोवर पोखर ताल तलैया तो जल, वाष्प बनाकर जलचक्र की रचना कर रहे हैं। तो पेड़ भी ऋतु का चक्का घुमा रहे हैं। उनके पत्ते झड़ गये हैं। नौतपा की आहट है नर्मदा की धारा में अनेक जगह रेत की क्यारियाँ निकल आई हैं। 'हमरे काँजे तो अच्छोई भव' तो छोटे-छोटे नाती नतरों के कुप्पी बाँधकर तैरना सिखा रहे हैं। यह पल दो पल नहीं घंटों चल रही है लोकलीला। जेठ की अमावस्या है। घाट पर वट की पूजा हो रही है। सूत लिपटा जा रहा है। परिक्रमा हो रही है। और विंध्याचल के हरे पेड़ धूँ-धूँ जल करती टुन-टुन बज रही है तो अपने आप में समय का संकेत देती रंगधूली है जो हमारे अंतस में नीरांजना की अनुभूति भर देती है। नीरांजना हमारे दैनिक क्रिया कलाप का अभिन्न अंग बन जाती है। वह हमारे दिन भर की सिद्धी को रच देती है और भविष्य की नींव साकार होती है। तो हिया के अंदर घंटी बज रही है टुन! टुन! बस, बजती रहना चाहिए। गोरज की सिंगारी जल पर तैर रही है तो दर्शनार्थी उमग रहे हैं बड़ों चोखो लाग रयो' - मैया के चरणों की धूल / धूल मुझे प्यारो लगे / उड़ी-उड़ी धूल मेरे मस्तक में लागे। / नावर करूँगा भरपूर।''

यह वर्जना-मुक्त समाज का दौर है

हिन्दी कहानी के मौजूदा परिदृश्य में कथ्य, विचार और भाषा-शिल्प की नई कौंध जगाने वाली ममता कालिया से संवाद, अनुभव के नए प्रकाश में अपने वक्त को देखना है। करीब पाँच दशक की साहित्यिक यात्रा के ऐसे अनेक पड़ाव हैं जिन्हें वे सबक की तरह याद करती हैं। हिन्दी के पाठक समाज में उनका बड़ा मान है। साहित्यिक खानाबंदी और उठा-पटक पर वे खुलकर बोलती हैं। पिछले दिनों उन्हें भोपाल में राष्ट्रीय वनमाली कथा सम्मान से विभूषित किया गया। प्रसंगवश कथाकार शशांक और रेखा कस्तवार ने ममताजी से लंबी बातचीत की। उन तमाम मुद्दों को खंगाला जो आज के कथा साहित्य से सीधे वाबस्ता हैं। प्रस्तुत है ममता कालिया का अविकल संवाद।

हिन्दी की अग्रणी कथाकार ममता कालिया से शशांक एवं रेखा कस्तवार की बातचीत

शशांक : ममता जी, आपके पास चालीस-पचास सालों का कथा का अनुभव है और मैं तो कहूँगा कि एक सौ बीस साल यदि कथा के इतिहास के हैं तो आपने लगभग आधा जीवन इतिहास के रूप में जिया है। तो महज एक जिज्ञासा होती है, क्योंकि छठवें दशक में आपने जिस भाषा में अपने लेखन को किया है, जो प्रतीक और प्रतिमान उस वक्त थे, जो टोन थी। क्रमशः धीरे-धीरे समय और समाज के साथ वो बदलता गया है। हम यह जानना चाहते हैं कि आपने इस बदलाव के लिए खुद क्या किया?

ममता कालिया : शशांक जी! सबसे पहले तो यह कि मैंने सातवें दशक में लिखना शुरू किया। छठवें दशक में नहीं। छठवें दशक में तो मैं बहुत छोटी थी और बच्चों की कहानियाँ लिखी करती थी। छठे दशक में तो हम पढ़ा करते थे, जो कहानियाँ लिखने वाले थे। मुझे लगता है कि हिन्दी कहानी में जो- आपको कहने से पता चला कि वाकई इतना लम्बा एक सौ बीस साल का समय है, जिसमें से करीब पचास साल तो हमने ही देख लिये कहानी के विकास के। वाकई ये बहुत लम्बा समय होता है। इसमें जितनी तीव्र गति से बदलाव आए, उतने शायद पहली दहाई में या पहले पचास वर्षों में न आए होंगे, जितने कि अगले पचास वर्षों में बदलाव आए। कुल मिलाकर अच्छा ही अनुभव रहा कहानी की विकास यात्रा का। मुझे याद है कि सातवें दशक में जब हम लिख रहे थे, तब हिन्दी समाज के ऊपर और युवा समाज के ऊपर अमेरिकन एब्सर्ड थिएटर और एब्सर्ड कविता का बहुत अधिक प्रभाव था। वो प्रभाव देखा जाए तो उस प्रभाव से कतई कम नहीं था, जिसे हम आज ग्लोबल इफेक्ट कहते हैं। इसी तरह का प्रभाव उस समय था और ऐलन गिजबर्ग भारत बार-बार आते थे, उनकी कविता 'हाउस' और पीटर ऑलस्की उनके साथी उनके साथ आते थे और भूखी पीढ़ी के समस्त प्रभाव जो थे वो अमेरिकन बीट की कविता से आए थे।

शशांक : यहाँ कहना चाहूँगा ममता जी! जो आपकी कविता की शुरुआत हुई है, मुझे याद आता है, मैं एक दिन पलट रहा था तो 'ज्ञानोदय' के वो दो अंक हैं, जो महिलाओं पर केंद्रित थे। उसमें आपकी कविता है। उस वक्त तक 'प्यार घिसते-घिसते चपटा हो गया है' जैसी अवधारणा में एक स्त्री को एक महानगर में खड़ा किया। हम यह जानना चाहेंगे कि 'बेघर' उपन्यास में आपके पास - क्योंकि आप स्वयं भी मुम्बई में थीं और आपने इस विषय को उठाया। तो आपकी चुनौतियाँ उस समय आपको क्या लगती थीं?

ममता कालिया : शशांक जी! मुझे लगता है कि चुनौतियों की बहुत चेतना नहीं थी। क्योंकि जब आप जीते हैं एक बवण्डर जैसे प्रभाव में, तब चुनौती आपके सामने आती है और आप उसे झेल जाते हैं और आपको पता ही नहीं होता कि आपने झेली। वो तो बाद में, अब जब पीछे मुड़कर देखते हैं तो लगता है कि- अरे! ये तो इतनी बड़ी क्रान्तिकारी बात थी जो कहीं हमने उस समय, कि एक लड़की है जिसके ऊपर समाज का वही पिटा-पिटाया ढर्रा लग रहा है जबकि वह प्रेम करती है और उस समय सारी क्रान्ति करती है- और वह क्रान्ति उसी के प्रेमी को स्वीकार नहीं होती। पता चला कि वह उसके साथ शादी के पहले सम्बन्ध बनाना चाहता है और वो सोचता है कि वह पहला नहीं है तो एकदम कुण्ठित हो जाता है।

'बेघर' में मैंने ये समस्या ली, क्योंकि मेरे लड़कपन के वर्षों में कभी एक लड़की को मैंने अपनी माँ से ये बात शेयर करते सुना था- देखो, आपकी दो लड़कियाँ हैं, इनसे कहना कि बहुत सोच-समझकर मोहब्बत करें और बताते हुए वह लड़की भूल जाती है कि मोहब्बत क्या कभी सोच-समझकर की जाती है। वह कहती है- हमेशा उनसे यही कहिये कि लड़का सब कुछ करेगा, दोस्ती करेगा, घर ले जायेगा आपको, वायदे करेगा, शादी नहीं बनायेगा। गुजराती लड़की थी। वह गुजराती लड़की बार-बार यह अपनी मम्मी को समझाती थी कि- आप अपने लड़कियों को सँभालकर रखिये। वे थिएटर करती हैं, कविता भी लिखती हैं, डिबेट में भी जाती हैं। सारा दिन बाहर घूमती रहती हैं। तो आप उनको ध्यान से रखिये। ये वो समझाया करती थी।

इसी के आधार पर मैंने लेखन की शुरुआत की थी। जब मैंने 'बेघर' लिखा तो बहुत सारे अजीबो-गरीब चरित्र मेरे आसपास थे। क्योंकि थैंक्स टू रवीन्द्र, हमेशा हमारे साथ बड़े बोड़म और बीहड़ किस्म के दोस्त रहे हैं। तो चरित्रों की मेरे पास कोई कमी नहीं थी। पात्र इफरात में थे, बल्कि कुछ पात्रों के साथ न्याय भी नहीं हो पाया। मैं भी बहुत अनुभवी नहीं थी। मेरा पहला उपन्यास ही तो है। और जैसी मेरी आदतें हैं! जैसे बुखार में लिखती हूँ। एक सिटिंग में लिख डालती हूँ बहुत सारा और उसको फिर मैं कभी रिवाइज नहीं करती, कभी पलटकर पढ़ती नहीं हूँ। तो जो भी उसमें कच्चा-पक्कापन रह गया, वो आज तक मेरी रचनाओं में रह जाता है।

शशांक : ममता जी, यह तो आपकी विनम्रता है। वैसे मैं अपने तईं जो दस श्रेष्ठ उपन्यास हिन्दी के माने जाते हैं, जिसमें मैं पहला 'बाणभट्ट की आत्मकथा' हजारी प्रसाद द्विवेदी को रखता हूँ। उन दस में 'बेघर' है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि 'बेघर' की जो मूल अवधारणा और समस्याएं थीं, आज आप उसे पलटकर देखती हैं- लगभग तीस साल से ऊपर हो रहे होंगे- उसे आपको लगता है कि उसमें कुछ और नये बदलाव की आवश्यकता है?

ममता कालिया : देखिए, एक रचना में तो आप बार-बार समय रहते ऐसे बदलाव नहीं कर सकते, जैसे आप शिक्षा-नीतियों में करते हैं या अर्थ-नीतियों में करते हैं। कलाकृति अपनी जगह है, वह अपनी सीमाओं के साथ वहीं रहेंगी, जैसे कि जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र' अपनी जगह रह गया। आज हम सोचते हैं कि बुआ को इतना विद्रोह और क्यों नहीं किया। प्रमोद की बुआ ने। मृणाल। इसी तरह से मैं सोचती हूँ कि संजीवनी जो है, जितना कर सकती थी, वह अकेले रह गयी और उसके साथ पूरा न्याय भी नहीं हुआ है, लेकिन असली सजा तो परमजीत को मिली।

भोपाल के आईसेक्ट स्टूडियो में भेंटवार्ता की रेकॉर्डिंग से पूर्व कथाकार ममता कालिया और रवीन्द्र कालिया के साथ शशांक, रेखा कस्तवार, मुकेश वर्मा, संतोष चौबे, महेन्द्र गगन और विनय उपाध्याय

रेखा कस्तवार : मैं आपसे यही पूछना चाह रही थी कि जब परमजीत रिलॉन्च होता है तब मेरी पत्नी है। लेकिन एक्चुअली साथी में जो कुछ होना चाहिए वो सब नहीं मिला। मुझे लगता है कि 'बेघर' परमजीत भी होता है, इन अर्थों में कि आपको पत्नी से जो कुछ चाहिए वो तो वहाँ आपको नहीं मिल रहा है?

ममता कालिया : सबसे बड़ा बेघर तो वही है।

रेखा कस्तवार : आपने एक चीज पाने के लिए दुनिया की सचमुच जो साहचर्य और सहजीवन और साथ चलने की जो बात है, वह खत्म हो जाती है। इसलिए मुझे 'बेघर' और भी महत्वपूर्ण लगता है।

शशांक : हम थोड़ा-सा आगे चलेंगे और हम कहानियों की भाषा पर बात करना चाहेंगे।

यह आकस्मिक नहीं है कि रवीन्द्र कालिया जी, जो अपनी उन्मुक्त भाषा, जिसमें एक विकल्प भी पैदा करते हैं और उस समय के आपके लेखक-दोस्त, वो सब भाषा और उसके ट्रीटमेन्ट में बहुत आगे जाते थे। अगर अपने आपको सहेज कर रखना और किसी के आकर्षण से बचना, ये बहुत बड़ी बात है। क्या ये आपने सायास किया या आपको लगता था कि मैं इन सबसे अलग हटकर काम करूँगी?

ममता कालिया : देखिए, भाषा तो मेरे पास ऐसे आई, मैं इतने शहरों में रही और मैंने इतनी पुस्तकें पढ़ीं और शायद उस ज़माने में पढ़ीं जब मैं इतना ज्यादा समझती नहीं थी साहित्य को, तो मेरी भाषा में बहुत रगड़ लगी। मध्यप्रदेश की, बम्बई की, दिल्ली की, मथुरा की जहाँ की मैं हूँ- इन सब जगहों की लगड़ लगकर और उनका धूप-ताप लगकर मेरी भाषा बनी और इसमें रेडियो का बहुत बड़ा योगदान रहा है। क्योंकि हमारे समय में रेडियो कला, संस्कृति और साहित्य का एक बहुत बड़ा माध्यम था और अच्छे से अच्छे कलाकार हम रेडियो में सुन सकते थे। तब हमारे जमाने में दृश्य-मीडिया की इतनी नौटंकी नहीं थी। थी ही नहीं समझिये उस समय।

मुझे लगता है और क्योंकि हिन्दी कभी मेरा एकेडमिक विषय नहीं रहा है, इसलिए यह हुआ कि मैंने हिन्दी को ज्यादा बोलचाल के स्तर पर सीखा। तो भाषा कह सकते हैं कि यहीं से कहीं से निकली। एक तरफ मैं कामवालियों और मजदूरों से भी बात कर सकती थी और मैंने देखा कि मैं पढ़े-लिखे लोगों के साथ भी ठीक-ठाक बोल सकती थी और फिर मैं विद्या जगत से जुड़ी रही। उसमें यह रहा कि विद्यार्थियों के साथ बहुत अन्तर्संवाद रहा, परस्पर संवाद रहा।

भाषा तो इसी तरह से धीरे-धीरे आपके पास आती है और उसमें लगातार शब्द जुड़ते जाते हैं। कुछ शब्द जो अच्छे लगते हैं वो आप पकड़ लेते हैं और वो आप कोशिश करते हैं बार-बार इस्तेमाल करने की- भले ही समझ में आए न आए, फिट हो न हो पर फिर भी आप उन शब्दों को बार-बार डालते हैं, क्योंकि वो आपके प्रिय शब्द हैं। इस तरह से मुझे लगता है कि भाषा धीरे-धीरे आयी और उस भाषा और स्टाइल पर परोक्ष रूप से रवि का प्रभाव पड़ता होगा। क्योंकि दो लेखक जब साथ रहते हैं और लगातार संवाद की स्थिति में हैं तो जाहिर है कि वो होगा। मैं नहीं जानती कि मैंने सायास ऐसी कोई कोशिश की होगी दूर हटने की। क्योंकि यह मोहब्बत जताने का भी तरीका होता है कि आप प्रभाव ग्रहण करें।

शशांक : क्या बात है! बहुत अच्छी बात कही आपने।

ममता कालिया : मुझे लगता है कि मेरे लिए लिखना केवल लिखना ही नहीं है, केवल अपने को व्यक्त करना ही नहीं है, यह है कि हम दो लोग लेखन के माध्यम से ही मगन रहते हैं।

शशांक : मैं हिन्दी साहित्य के कथा-दम्पत्तियों की बाद में बात करूँगा। क्योंकि बात हमारी आगे चल रही है। ममता जी! मैं यह जानना चाहूँगा, 'कामयाबी' कहानी को आप देखिए। इसमें काफी वर्णन है। वर्णन कहानी को एक संगुम्फित करती है और आगे धीरे-धीरे ले जाती है। यह भी आजकल कहा जाता है एंगरसन ने कहा है कि इतनी आपाधापी और तेज दुनिया है कि वर्णों से भरे हुए मोटे उपन्यास आएंगे और उसमें वर्णन सबसे ज्यादा होगा तो महत्वपूर्ण होगा कि उसकी टेक्नीक के बीच में कोई सन्तुलन पाती हैं?

ममता कालिया : देखिए, होना तो चाहिए। वर्णन और टेक्नीक, देखा जाए तो वर्णन को बहुत उबाऊ नहीं होना चाहिए, बहुत लम्बा नहीं होना चाहिए। आज पाठक के पास बहुत विकल्प हैं। अगर आप उसे बोर करेंगे तो वह किताब बन्द करके रख देगा। कभी नहीं टेक-आफ करेगा उस चीज को। वह टी.वी. खोल लेगा, वह लैपटॉप खोल लेगा, अपना लॉगिन कर लेगा। वो कुछ भी कर लेगा। वह टेनिस का रैकेट लेकर खेलने निकल जाएगा। लेकिन वह वापिस किताब पर नहीं आएगा। तो लिखने वाले को थोड़ा-सा इस चीज का ध्यान रखना पड़ेगा कि वह अपनी रचना को वर्णन के माध्यम से इतना बोझिल न बना दे या इतना विस्तृत न बना दे, इतना विस्तार न दे दे उसको कि लोग उससे विमुख हो जाएँ।

आज लिखना जितनी बड़ी चुनौती है, उतना ही पढ़ना भी बड़ी चुनौती है। हमें कम से कम यह करना चाहिए। लेखकों को इस चीज का ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने लिखित शब्द तक लोगों को आमंत्रित करने में सफल हों। हमें एक लेखक के रूप में थोड़ा-सा पाठक को ध्यान में रखना चाहिए। बहुत ज्यादा नहीं इतना नहीं जितना कि कृषि मीडिया रखते हैं कि आँसू बहाऊ किस्म की या एकदम से बिल्कुल सेन्टीमेण्टल चीजें दे देते हैं। इस किस्म की नहीं। लेकिन थोड़ा-बहुत पाठक की चेतना हमारे अन्दर होना चाहिए।

> "हर रचना अलग टेक्नीक की माँग करती है। क्योंकि आपका किरदार बिल्कुल अलग है और उस किरदार की डिमाण्ड्स बिल्कुल अलग है और सिचुएशन। कई बार तो यह होता है, आपने अपनी रचना में 1960 का समय लिया और कभी आप ले रहे हैं 2013 का समय। तो वह एक नहीं हो सकती है। न भाषा एक हो सकती है, न टेक्नीक एक हो सकती है। क्योंकि आपका दिमाग भी तो फ्लैशबैक में जा रहा है।"

रेखा कस्तवार : ममता जी, एक सवाल यह है कि क्या प्रत्येक रचना अपने लिए एक अलग टेक्नीक की माँग करती है? आप अपनी कहानियों के सन्दर्भ में...

ममता कालिया : हाँ, बिल्कुल करती है। हर रचना अलग टेक्नीक की माँग करती है। क्योंकि आपका किरदार बिल्कुल अलग है और उस किरदार की डिमाण्ड्स बिल्कुल अलग है और सिचुएशन। कई बार तो यह होता है, आपने अपनी रचना में 1960 का समय लिया और कभी आप ले रहे हैं 2013 का समय। तो वह एक नहीं हो सकती है। न भाषा एक हो सकती है, न टेक्नीक एक हो सकती है। क्योंकि आपका दिमाग भी तो फ्लैशबैक में जा रहा है। आप 1960 की कथा-भूमि में 2013 की भाषा या शैली इस्तेमाल नहीं कर सकते।

शशांक : ममता जी! एक बहुत ही आश्चर्य की बात है कि आपने कविताओं से शुरूआत की। रवीन्द्र जी की मैंने कविताएँ नहीं पढ़ीं। मगर एक आश्चर्य की बात यह है कि जब से आपको उनका संग-साथ हुआ है, कहानी, उसके बाद उपन्यास, उसके बाद संस्मरण। आपको बहुत ही खूबसूरत 'कितने शहरों में कितने बार' - मैं वहाँ पर आपको ले जाना चाहता हूँ। शहरों का आपने इतना जीवन्त चित्रण किया है, शहर हमें कैसे बनाते हैं और हम शहर से कैसे आगे बढ़कर आते हैं। आप लौटकर जब अपने शहरों पर जाती हैं तो सबसे पहले आप किस शहर को याद करती हैं?

ममता कालिया : इन्दौर याद आता है। क्योंकि शायद इन्दौर में मेरे सबसे प्रभावशील वर्ष बीते। मैंने नया-नया पढ़ना यूनिवर्सिटी में शुरू किया था। कॉलेज में थे। वहाँ तो यूनिवर्सिटी थी नहीं। कॉलेज में थे, लेकिन चार साल - फर्स्ट ईयर से लेकर बी.ए. फाइनल तक - का समय मैंने वहाँ बिताया। सबसे बड़ी बात यह है कि वहाँ का जो वातावरण था - क्रिश्चियन कॉलेज का उस जमाने में - 1957 से 1961 की मैं बात कर रही हूँ आपसे। वो वातावरण बिल्कुल साहित्यधर्मी और संस्कृतिधर्मी था।

आप सोचिये, वहाँ पर आए दिन वाद-विवाद प्रतियोगिताएं, भाषा प्रतियोगिताएँ होती रहती थीं। हाँ क्लास में बैठे-बैठे ही कवि-गोष्ठी हो जाती थीं। क्योंकि बहुत सारे लेखक और कवि उस समय मेरे कॉलेज में पढ़ते थे। वो सब मुझसे सीनियर थे, लेकिन सब थे। चन्द्रकान्त देवताले, रमेश बख्शी, सरोज कुमार, अतुल भारद्वाज और भी बहुत सारे लोग थे। कई लेखक जो थे, उस समय वहाँ पर थे। वो सब, जो लिखना शुरू किया तो डेली पेपर में लिखा करते थे। जब सुनती थी, कवि-गोष्ठी करते थे तो अचानक समोसे आ जाते थे, चाय आ जाती थी। तो पूरा माहौल बड़ा अच्छा लगता था हमको।

और, उन्हें सुनते हुए और पढ़ते हुए मैं सोचती थी कि ऐसा क्या है, ऐसी क्या कविता है, इस पर इतनी तालियाँ बज रही हैं। एक चुनौती मेरे अन्दर पैदा होती गयी इस चीज को लेकर और एक लड़कपन का एक सगुफ्ता भरा अभिमान ही होता है कि आप यह सोचते हैं कि- अरे! ये काम तो हम कर सकते हैं। इनसे बेहतर कर सकते हैं। तो मेरे अन्दर यह एक होड़ की भावना आ गयी, उसी समय और मैंने लिखना शुरू किया। मैंने सबसे पहले कविता लिखी। मेरा ख्याल है कि वह नई दुनिया के रविवारीय अंक में छपी थी- 'प्रयोगवादी प्रीतम'। वह एण्टी-रोमेन्टिक कविता थी। उसे पढ़कर लोगों को पहली बार पता चला और माता-पिता को भी पहली बार पता चला कि मैं लिखती हूँ। जबकि मैंने छिप-छिपुकर वो भेजी थी। बीस पैसे का टिकिट लगाकर, बुकपोस्ट और वह छप गयी तो एकदम से यह हो गया कि अरे ममता तो लिखने लगी है। फिर मैं हर हफ्ते लिखने लगी और इन्दौर के जितने भी समाचार-पत्र थे - जागरण, नई दुनिया - इन सबमें मेरी लगातार रचनाएँ छपीं वहाँ पर। इससे मुझे बहुत बढ़ावा मिला।

राजस्थान से एक पत्रिका निकलती थी- 'लहर'। उसके सम्पादक थे- प्रकाश जैन। वो क्या करते थे, कि वह पोस्टकार्ड पर सिर्फ एक लाइन लिखकर भेज देते थे कि- 'प्रिय ममता, अगली रचना कब भेज रही हो? तुम्हारा प्रकाश जैन।' वह चिट्ठी लेकर मुझे ऐसा लगता था कि ये तो आदेश है, अब तो बस लिखना ही लिखना है। उसी के आधार पर, उनके कहने पर मैंने नाटक भी लिखा। मैंने कहानी भी लिखी उनके कहने पर। सब कुछ लिखना शुरू कर दिया मैंने। जब वह जो चीज माँगते थे, मैं लिख देती थी। और वह रेडियो के ही कारण, क्योंकि रेडियो के लिए भी मैं लिखती थी। तो एक चुनौती यह थी कि आपसे अगर हरी घास पर भी कहा जाएगा तो आप लिख देंगे। क्षण भर नहीं। तत्काल।

शशांक : ममता जी, आज की दुनिया जो है, जहाँ पर महिलाएँ हों, जहाँ पर नारी-विमर्श, महिला-विमर्श की बात न हो, ये बहुत सहज रूप से हो गया। मगर हम देखते हैं कि आपकी रचनाओं में- हम 'संजीवनी' की ही बात करें- वह महिला अपने पैरों पर खड़े होना और अपनी ज़िद और शिद्दत से आगे आना और उसमें आपकी भाषा शान्त और संयत, और महिला अपने रूप में अपने नाटक से एक अलग नाटक नहीं कर रही है, यह दिखाई पड़ता है और लगातार आपकी रचनाओं में एक महिला-विमर्श का। बहरहाल, एक बात बताइये कि पिछले तीस चालीस सालों में - चाहे विदेश का हो और अभी हो - ये महिला विमर्श से साहित्य का कुछ भला हुआ?

ममता कालिया : देखिए, इससे भला ये हुआ कि बहुत-सी वर्जनाओं को टूटने का अवसर मिला कि स्त्री-विमर्श के कारण स्त्रियों की झिझक खुली, उनके कमल के संकोच टूटे। लेकिन धीरे-धीरे जहाँ एक तरफ महादेवी वर्मा के निर्भीक लेख हमारे सामने हैं, जहाँ 1934 में उन्होंने बता दिया कि स्त्रियों को स्वावलम्बी होना चाहिए उनके अन्दर शिक्षा होनी चाहिए, उन्हें नौकरी करना चाहिए, उन्हें किसी से डरना नहीं चाहिए। एक तरह से देखा जाए तो महात्मा गाँधी के सारे सन्देशों को साहित्य के माध्यम से महादेवी वर्मा ने दिया।

" भला ये हुआ कि बहुत-सी वर्जनाओं को टूटने का अवसर मिला। स्त्री-विमर्श के कारण स्त्रियों की झिझक खुली, उनके कलम के संकोच टूटे। लेकिन धीरे-धीरे जहाँ एक तरफ महादेवी वर्मा के निर्भीक लेख हमारे सामने हैं, जहाँ **1934** में उन्होंने बता दिया कि स्त्रियों को स्वावलम्बी होना चाहिए उनके अन्दर शिक्षा होनी चाहिए, उन्हें नौकरी करना चाहिए, उन्हें किसी से डरना नहीं चाहिए। "

शशांक! होना तो यह चाहिए था कि इस विचारधारा को हम आगे बढ़ाकर स्त्री-विमर्श को एक भारतीय स्वरूप देते। लेकिन बीच में यह हो गया है, 1986 में 'हंस' पत्रिका की शुरुआत हुई। 'हंस' शुरूआत में बड़ी लद्दड़ किस्म की थी और नहीं चल रही थी वो। राजेन्द्र यादव थे तो शातिर सम्पादक, उन्होंने उसमें स्त्री-विमर्श का एक ताजा-ताजा फार्मूला ईजाद किया। उसको आप विमर्श नहीं कहेंगे, उसको आप फार्मूला कहेंगे। वो इसलिए, क्योंकि उन्होंने उसमें यह बताया कि सबसे पहले स्त्री के लिए देह की स्वतंत्रता बहुत जरूरी है। वह अपनी देह को आजाद करे। उन्होंने यौन-मुक्ति की बातें कीं, उन्होंने यौन-स्वातंत्र्य की बात की। उन्होंने बताया कि

परिवार सबसे बड़ी जकड़बन्दी है। ये सारी बातें, जो उन्होंने दीं, इसके तहत कहानियाँ लिखना थोड़ा आसान हो गया। स्त्रियों को भी लगा कि बड़ी अच्छी बात है कि हमें वर्जना-मुक्त समाज का एक सन्देश दिया जा रहा है।

देखा जाए तो राजेन्द्र यादव ने कुछ आसाराम बापू की तरह से एक आश्रम चला दिया- नारी-विमर्श का; और उसके अन्तर्गत उन्होंने कई स्त्रियों को कहानीकार बना दिया। बल्कि सबको कहानीकार बना दिया। जिसे नहीं लिखना था, वह भी लिखने लगी। और जब आपने एक नाप किसी को दे दिया और उस नाप के अनुसार कपड़ा सिलाई करना है, कहानी लिखनी है, खड़ी करनी है कहानी बहुत आसान है। उन्होंने छोटे-छोटे ताजमहल आसान कर दिये।

शशांक : इन छोटे-छोटे ताजमहलों में रहने वाली जो कुछ लेखिकाएँ हैं, जो बड़ी हैं। उन पर कुछ आप बताएं कि क्या कुछ नुकसान हुआ है नारी-विमर्श से उनको?

ममता कालिया : देखिए, नुकसान ऐसा है कि साहित्य से हुए नुकसान को आप दूरगामी उसमें देख सकते हैं। नुकसान इतनी जल्दी पता नहीं चलता। ऐसा नहीं है कि आपने नकली दवाई खायी और तुरन्त आपके यहाँ रिएक्शन हो गया। कहानी का रिएक्शन और उपन्यास का रिएक्शन आपको पचास वर्ष बाद पता चलेगा कि भई उन्होंने ऐसा लिखा है, पता चला है कि ऐसा यौन-स्वातंत्र्य है उनकी कहानियों में जिसमें पता ही नहीं चलता, कोई किसी का कुछ नहीं लगता, केवल नर और मादा दो सम्बंध रह गये हैं। ऐसी जब रचनाएँ आने लगीं सामने, तो मुझे लगता है कि बिना इसका और उसका नाम लिये। क्योंकि उन्होंने साहित्य को पठनीय तो बहुत बना दिया। कहानी को पठनीय बना दिया। लेखिकाओं ने और यह माना जाएगा कि इन्होंने अपने लिए एक नया पाठक वर्ग तैयार किया। लेकिन साथ ही साथ उन्होंने इसमें इतनी उत्तेजना डाल दी, इस माध्यम की गम्भीरता को थोड़ा-सा नष्ट किया- इस चीज के लिए शायद समय उन्हें क्षमा नहीं करेगा।

शशांक : ममता जी, यह बताइये कि छठवें दशक के, आपने तो सातवाँ दशक कहा। मैं कहूँगा छठवाँ दशक, कालिया जी के बाद से, उनके साथ के और बहुत सारे लेखक आज भी सक्रिय हैं। उनके बारे में कुछ बताइये आप कि क्या उनकी रचनाएँ आपको अब लगती हैं?

ममता कालिया : ऐसा है कि समकालीन समय - यदि देखा जाए तो - बड़ा गड्ड-मड्ड समय होता है। इसमें पिछली पीढ़ी के लोग भी लिखते रहते हैं, इसमें अगली पीढ़ी के लोग भी लिखते हैं। जो आप कह रहे हैं छठवें दशक - मैं कहूँगी सातवें दशक के लोग, जो अभी तक लिख रहे हैं, इसमें शक नहीं कि अपने साथ एक परिपक्वता ला रहे हैं दृष्टि में। उसमें जैसे दूधनाथ सिंह का लेखन है, रवीन्द्र कालिया का लेखन है, विजयमोहन सिंह का लेखन है। ये सभी लोग अभी तक लिख रहे हैं जो। ये जब भी यदा-कदा लिखते हैं, इसमें मुझे लगता है कि एक जो दूरदृष्टि होती है या एक जो तरीका होता है लिखने का इनका, वो है तो बहुत आकर्षक।

शशांक : 'काशी-काशी'।

ममता कालिया : काशीजी की भी कुछ रचनाएँ बहुत अच्छी हैं।

> ‘ मैं अपने तईं यह मानती हूँ कि रचनाकार को अपशब्दों से बचना चाहिए, क्योंकि कृति को विकृति बनाने का अधिकार हमें नहीं है। हम समाज को कहाँ ले जा रहे हैं? ठीक है, आपके बनारस में यह बोली जाती है। लेकिन ऐसा है कि हर शहर में एक जगह कचरा फेंका जाता है, आप हमेशा कूड़ेदान की बात नहीं कर सकते। मैं यह मानती हूँ कि रचना में उन्हें शब्द सही रखने चाहिए। उनके पास बड़ी बेदाग दृष्टि है समाज की विसंगतियों को देखने की। उसको देखें। वो बड़े अद्‌भुत पात्र खड़े करते हैं। 'काशी-काशी' में उन्होंने जो बात ली है, वह बहुत ही क्रान्तिकारी है कि टॉयलेट बना दिया जाए मन्दिर की जगह। लेकिन उस तक पहुँचने के लिए उन्हें अपशब्दों के सहारे से बचना चाहिए। ’

शशांक : 'काशी का अस्सी' पर मैं बात करना चाहता हूँ। जो उसकी बुनावट है, उसमें गाली-गलौज है, उसमें चरित्र हैं।

ममता कालिया : ये चीज मुझे विमुख करती हैं। देखिए, मैं अपने तईं यह मानती हूँ कि रचनाकार को अपशब्दों से बचना चाहिए, क्योंकि कृति को विकृति बनाने का अधिकार हमें नहीं है। क्योंकि हम समाज को कहाँ ले जा रहे हैं? ठीक है, आपके बनारस में यह बोली जाती हैं। लेकिन ऐसा है कि हर शहर में एक जगह कचरा फेंका जाता है, आप हमेशा कूड़ेदान की बात नहीं कर सकते।

मैं यह मानती हूँ कि रचना में उन्हें शब्द सही रखने चाहिए। उनके पास बड़ी बेदाग दृष्टि है समाज की विसंगतियों को देखने की। उसको देखें। वो बड़े अद्‌भुत पात्र खड़े करते हैं। 'काशी-काशी' में उन्होंने जो बात ली है, वह बहुत ही क्रान्तिकारी है कि टॉयलेट बना दिया जाए मन्दिर की जगह। लेकिन उस तक पहुँचने के लिए उन्हें अपशब्दों के सहारे से बचना चाहिए।

शशांक : राजनीति में तो माफी माँगनी पड़ती इसके लिए। मतलब मन्दिर के बजाय टॉयलेट बनाने पर माफी माँग लेते, तो साहित्यकार क्यों नहीं माँगते?

ममता कालिया : मुझे ऐसा लगता है कि उन्होंने रचना के साथ थोड़ा अन्याय किया है। क्योंकि उस रचना को पढ़ते हुए जो मन के अन्दर आ जाता है, वो मुझे अच्छा नहीं लगता। जबकि थीम बहुत अच्छी थी अपने आपमें।

शशांक : मैं एक बात पूछना चाहता हूँ, अक्सर बार-बार यह लगता है मुझे। जब हम लेखकों के घर की बड़ी-बड़ी लाइब्रेरी देखते हैं। फिर आपके मन में कभी यह उठता है कि हमारे बच्चे इसे पढ़ेंगे या नहीं?

ममता कालिया : नहीं, हम यह जानते हैं, हमें ऐसा कोई भ्रम नहीं कि हमारे बच्चे इन्हें पढ़ेंगे। वो बिल्कुल नहीं पढ़ेंगे। वो सफलता की किताबें पढ़ते हैं। वो प्रबन्धन की किताबें पढ़ते हैं। वो अपना समय नहीं करते कहानी-कविता में। ये सारी किताबें मैं जानती हूँ उठकर जाएँगी कहीं न कहीं और मैं तो सोचती हूँ कि - अभी तो मैंने की नहीं - वसीयत करूँ तो मैं यह लिख दूँ कि ये किसी लाइब्रेरी को दे दिया जाए, जो भी आसपास लाइब्रेरी हो। पर सबसे बड़ी विसंगति की बात यह है कि आजकल लाइब्रेरियाँ भी लेने से इंकार कर रही हैं। वो यह कहती हैं- हमारे पास अलमारी नहीं हैं। पहले आप हमें स्पेस दीजिए, अलमारी दीजिए, तब हम आपकी किताबें उठाएंगे।

कई बार हम लोगों ने किताबें दीं। आप बिलीव नहीं करेंगे मेरे कॉलेज को किसी ने फ्री में किताबें दीं। जब एक ज़माने में मेरा कॉलेज कच्चा था और संघर्ष कर रहा था। मैंने कहा मैनेजर से कि- देखो, हम लोगों को पचास हजार किताबें मिली हैं। तो वह कहने लगे - आ गयी खुश होकर, आपको कुछ पता नहीं है, आप उनसे कहिये पहले हमें पचास अलमारियाँ दें, तब हम पचास किताबें लेंगे। तो उन्होंने मुझे ठण्डा करके तुरन्त कॉलेज वापिस भेज दिया। इससे पता चलता है कि कितना कठिन काम होता है।

इन किताबों का पता नहीं क्या होगा? लेकिन मैं सोचती हूँ कि ऐसे न जाने कितनी चीजों का क्या होगा? मेरी साड़ियों का क्या होगा? उसकी तो कोई लाइब्रेरी भी नहीं है। कहाँ ले जाएँगे।

'रंग संवाद' के लिए लंबी बातचीत के बाद प्रसन्न मुद्रा में ममता कालिया और रवीन्द्र कालिया

रेखा कस्तवार : मुझे तो कई बार लगता है कि जब हम जी रहे हैं तो हमने उसे कितना बेहतर उपयोग कर लिया, हमें इसकी चिन्ता करनी चाहिए।

शशांक : अब मैं आपसे बातचीत के लिए आखिरी सवाल करूँगा। आपने तो कहा, बहुत खूबसूरती से इस बात को रखा कि आप उस टेक्नीक को भी ले लेती हैं, भाषा को भी ले लेती हैं, जो रवि जी के लिए प्रेम का एक प्रदर्शन भी है। शायद पहली बार सुना है मैंने इस बात को। आपने तो लिखा भी है- 'रवि अनन्त रवि कथा अनन्ता।' अब यदि दाम्पत्य जीवन में दो लेखक हैं और लेखक जब दोनों लिख रहे हैं और बहुत सारे दम्पत्तियों को मैंने देखा है जब लिखते हैं और एक असहजता का बोध पैदा होता है। क्या आपको परिवार में ऐसा अनुकूल वातावरण मिलता है? एक। दूसरा, कालिया जी के बारे में थोड़ा बताइये।

ममता कालिया : ये आपने दोनों जरा-से मुश्किल सवाल पूछ लिये। जो आप कह रहे थे कि परिवार में अनुकूल वातावरण मिलता है। यह ठीक है कि परिवार में कोई तलवारबाजी तो नहीं होती है, लेकिन परिवार आपको मोहलत भी नहीं देता है। क्योंकि परिवार केवल एक पति से नहीं बनता है, उसमें कितने तरह के लोग होते हैं आपके साथ और वो इतने विभिन्न और विपरीत स्वभावों के होते हैं, खुद अपने बच्चे ही विपरीत स्वभाव के होते हैं। मेरे बड़े बेटे का नाम अनिरुद्ध है, लेकिन बचपन में मैं उसे प्रबुद्ध कहती थी। हमेशा मेरे विरुद्ध रहता था, लेकिन अब ऐसा नहीं है वो। दूसरे बच्चे का नाम प्रबुद्ध है, लेकिन वह प्रबुद्धता का परिचय कभी-कभी देता था। देखा जाए तो कोई बहुत आसान काम नहीं रहता है इन सारी चीजों के बीच में। और भी परिवार में दूसरे सदस्य आते रहते थे, तरह-तरह के मेहमान, रिश्तेदार।

तो समय कभी भी अनुकूल नहीं रहा। मैंने क्या किया, मैं अपने समय को खिसकाती चली गयी, खिसकाती चली गयी। दिन में मैं कॉलेज जाती थी, आकर मैं घर के काम करती थी। तो मैं अपना समय खिसकाती गयी, खिसकाती गयी और रवि जब एक बार सो जाते थे तब मैं उठती थी और फिर मैं लिखना शुरू करती थी। इसी तरह मेरी आदत पड़ गयी कि मैं रात में लिखती थी, जिस समय मैं होती थी और घर के मच्छर होते थे, बस। जब मुझे पूरा करना होता था तो कोई न कोई जाग जाता था।

शशांक : ममता जी, आपने तो लिखा भी है कि यदि मुझे तेजी से लिखने वाली कहनियों का कोई पुरस्कार मिलेगा, तो आप ही को मिलेगा। जो आपके पन्ने हैं, उनमें हल्दी और मसालों की गन्ध होगी। ममता जी, आपकी कहानियों में, आपके उपन्यास में, जो भारतीय जीवन की गन्ध है, मसालों की जो गन्ध है, वो हमेशा बची रहे, हमारी शुभकामनाएँ हैं।

कुहासे में लोक कलाएँ

भारत डोगरा

सांस्कृतिक समृद्धि और विविधता के देश में बेहद प्रतिभाशाली लोक कलाकारों की कोई कमी नहीं है। लेकिन दूर-दूर के गांवों में बिखरे ये कलाकार तिहरे संकट को झेल रहे हैं। एक ओर जिस परंपरागत ताने-बाने ने उन्हें सदियों तक अपनी कलाओं को जीवित रखने के अवसर दिए थे। वह स्वयं ही टूट रहा है। दूसरी ओर, टीवी, सिनेमा और आधुनिकता की अंधी दौड़ में उनकी कलाओं की उपेक्षा हो रही है। राजस्थान की अनेक लोककलाएं ऐसे समुदायों के साथ जुड़ी हैं जिन्हें परंपरागत समाज में अन्याय और तिरस्कार झेलना पड़ा है। इसके बावजूद उन्होंने लोक कलाओं को जीवित रखा।

कालबेलिया समुदाय ऐसा ही है जिसके साथ सपेरों का नृत्य और गायन जुड़ा है। बहुरूपिए समुदाय की लोककलाओं में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह तरह-तरह का रूप धारण कर विभिन्न रंगों और मुखौटों का उपयोग कर समाज का मनोरंजन करते रहे हैं। लोक कलाकारों का एक अन्य समुदाय बांस भरत का है, जो बांसों से जुड़ी हुई कलाबाजियाँ दिखाते हैं। ये कलाएँ लुप्तप्राय हो रही हैं। कंजर समुदाय से जुड़ा चकरी नृत्य बहुत लोकप्रिय रहा है, पर इस समुदाय को और इसके कलाकारों, विशेषकर-महिला कलाकारों को उचित सम्मान नहीं मिला है। लोक-कलाकारों के लिए जो पेंशन संबंधी थोड़ी बहुत सुविधाएं स्वीकृत होती भी हैं तो वह दूर-दूर के गांवों में बिखरे लोक-कलाकारों तक नहीं पहुंच पाती है।

हाल में केन्द्रीय सरकार ने डिनोटीफाइड और घुमंतू (नोमेडिक) समुदायों की भलाई के लिए पहल करने की घोषणा की है। लोककलाकारों के कुछ समुदाय भी इस पहल का लाभ पा सकते हैं। लेकिन भूमिकाएं और उपयोगिता सामने आ रही है। आदिवासी भील समुदाय के नृत्य अपनी सामूहिकता के लिए जाने जाते हैं और लोककलाओं के संरक्षण के प्रयासों में इन्हें महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। पश्चिम राजस्थान के लंगा और मंगातियार लोक कलाकार हाल में चर्चा में रहे हैं। सवाल यह भी है कि क्या केवल चंद कलाकारों को विदेशों में भेजने या अधिक सुविधाएं देने से कलाएं बनेंगी।

इन कलाओं को बचाने के लिए राजस्थान में बेयरफुट कालेज के जरिए खयामती परियोजना के तहत किया जा रहा है। इस परियोजना के कार्यकर्ता रामनिवास ने बताया कि बाड़मेर, जैसलमेर और जोधपुर के करीब तीन सौ लोक कलाकार परिवारों के बारे में जानकारी एकत्र की गई है। लोक-कलाकारों के नाम, पते, उनकी कला की जानकारी अब एक वेबसाइट पर उपलब्ध है जिससे कि उनसे सीधा संपर्क किया जा सकता है। इस तरह बिचौलियों पर उनकी निर्भरता कम होगी।

परियोजना में लोक उत्सव कराना भी शामिल है। लोक कलाकारों को एक-रूसरे से मिलने और जानने का बेहतर अवसर मिलता है। लोक उत्सव 2014 का आयोजन इसी सिलसिले का हिस्सा था। यह पिछले दिनों संपन्न हुआ। खयामती कार्यक्रम का उद्देश्य राजस्थान में लोक गीत-संगीत की समृद्ध परंपरा को संजो कर रखना है और आगे ले जाना है। लोक कलाकारों में अगली पीढ़ी के जो छात्र अपनी स्कूली शिक्षा के साथ-साथ इस परंपरागत कला को आगे बढ़ाना चाहते हैं, उन्हें भी अपनी पैतृक धरोहर को आगे बढ़ाने के समुचित अवसर मिलने चाहिए। लोक संगीत से जुड़े कुछ वाद्यों की उपलब्धि भी कठिन हो रही है। न वाद्यों को बनाने वाले, इनकी बारीकियों को पहचानने वाले कारीगरों को खोज कर उनकी भी जरूरी सहायता करनी चाहिए ताकि इन वाद्ययंत्रों की उपलब्धि में आगे समस्याएँ न आएँ।

उत्तर प्रदेश के बुंदेलखंड क्षेत्र में समृद्ध लोक कलाएँ बिखरी हैं। इनकी झलक हाल में सम्पन्न चित्रकूट में आयोजित लोक कला उत्सवों में मिली है। इसमें दूर-दूर से लोक कलाकार एक मंच पर मिले। सामाजिक कार्यकर्ता गयाप्रसाद गोपाल ने बताया कि गांवों में हम लोक-कलाकारों की तलाश में गए तो एक ओर उसकी समृद्ध कला देखकर बहुत अच्छा लगा। दूसरी ओर उनकी कठिनाइयों और भीषण समस्याएं देखकर गहरा दुख भी हुआ। उत्तर प्रदेश के ही हमीरपुर जिले के भरखरी गांव का रामजीवन अपने तंबूरा वाद्य और नृत्य और कबीरी गायन के लिए सराहा जाता है। उसका जन्म एक बंधुआ मजदूर परिवार में हुआ था और आरंभिक जीवन बड़े भू-स्वामियों का पशु चराते हुए बीता। इस निर्धनता के बीच भी रामजीवन ने किसी तरह गीत-संगीत में बड़ी कुशलता प्राप्त की, पर कभी इससे संतोषजनक आजीविका प्राप्त नहीं कर सका।

ऐसे ही एक लोक कलाकार हैं नौरंगीलाल, जिनका जन्म एक सफाईकर्मी परिवार में हुआ। ढफली बजाने में नौरंगीलाल ने विशेष निपुणता प्राप्त की, पर जीवन-संघर्ष की कठिनाइयों से कभी राहत नहीं मिली। संतराम बंसोड़ ने भी सफाईकर्मी परिवार में जन्म लिया। मेहनत-लगन से रामतुला वाद्य में विशेष महारत पाई। पर आजीविका के लिए सुअर पालने की मजदूरी बनी रही। चित्रकूट जिले के आनंद ने बलमा नृत्य में बहुत ख्याति पाई। पर आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसे प्रवासी मजदूर बनना पड़ा।

इस तरह के उपेक्षित लोक-कलाकारों और उनकी कलाओं को नवजीवन मिल सके। इसके लिए एक व्यापक अभियान भी जरूरी है। इसका एक उद्देश्य यह होना चाहिए कि लोककलाओं और कलाकारों के लिए उपलब्ध बजट का उचित उपयोग वास्तविक लोक कलाकारों के हित में हो और साथ में सरकार को इस बजट को बढ़ाने के लिए भी कहा जाए। इसके साथ यह भी जरूरी है कि लोक कलाकारों के संगठन बनाए जाएं ताकि वे अपनी आवाज को अपने स्तर पर भी बुलंद कर सकें।

ब्रजेश बड़ोले

हाशिये पर हुनर

त्रिपुरारी शर्मा

जिन्होंने धरोहर को संभाल रखा था वे किनारे खड़े हैं। उनकी कला में कमी नहीं किन्तु समय को उसकी आवश्यकता नहीं क्योंकि उससे बहुत कम में काम चलाया जा सकता है, बेहतर व्यापार किया जा सकता है।

विडंबना है, एक ओर मनोरंजन व्यवसाय अपनी पराकाष्ठा पर है, दूसरी ओर सदियों से जनमानस को अपनी कला से आनंदित करने वाला मसुदाय स्वयं कोहाशिए पर पा रहा है। कुछ वर्ष पहले तक जो भद्रजन कला और कलाकार का सम्मान नहीं करते थे, उसे हेयदृष्टि से देखते थे वही आज विस्तृत होते इस नए बाजार से स्वयं लाभान्वित होने में परहेज नहीं रखते। जिन्होंने धरोहर को संभाल रखा था वे किनारे खड़े हैं। उनकी कला में कमी नहीं किन्तु समय को उसकी आवश्यकता नहीं क्योंकि उससे बहुत कम में काम चलाया जा सकता है, बेहतर व्यापार किया जा सकता है।

लोक कला मंडप की व्यवस्था में जुटे एक पुलिस अफसर, जिसका परिवार पारंपरिक कलाकारों से संबद्ध है, ने कहा, 'ये जो टीवी पर दिखाते हैं, हमसे देखा नहीं जाता। इससे दस गुना अच्छा तो हमारे बच्चे कर लें। हमारे यहां कोई रोता भी है तो सुर-ताल में लेकिन उसे खोजा नहीं जाता।' जिसे खोजा नहीं जाता, मुख्यधारा में स्थान नहीं दिया जाता, वह लुप्त होने लगता है। मुख्यधारा उसे अनदेखा कर रही है। दूसरे संचार माध्यमों द्वारा फैलाया जा रहा मुख्यधारा का जाल उसके लिए कोई ऐसा कोना नहीं छोड़ता जहाँ वह चुपचाप अपना काम कर सके। वह कक्षम है पर मुख्यधारा द्वारा सर्टिफाइड नहीं। क्योंकि मुख्यधारा का प्रभाव हर जगह हावी है। वह स्वयं को अपने माहौल में उखड़ा हुआ पाता है।

वैसे सही मायने में उसका अपना कोई कोना या माहौल कभी रहा नहीं। दूसरों द्वारा बनाए गए माहौल में दी गई जगह में वह जैसे-तैसे गुजर-बसर करता रहा। विशेष बात यह है कि सांस्कृतिक और कलात्मक धरोहर को संजोये रखने वाले अधिकतर कलाकार गरीब और दलित समुदाय से हैं। जन्म और जाति ने ही उन्हें इस भूमिका से बांध दिया था। जिसका नर्विाह वे करते आए। जिस समाज ने इस वर्ग के अशितत्व को नकारने का सदा भरसक प्रयास किया वह उसकी प्रतिभा को यथायोग्य स्थान कैसे दे सकता था? समाज का बड़ा हिस्सा स्वयं को कला

का साधक नहीं बल्कि कलाकार का जजमान मानता रहा। मरिसी परिवार के एक सदस्य का कहना है, 'देश-विदेश से ख्याति प्राप्त कलाकार भी जब अपने गांव लौटता है तो उसकी जगह वही है, जहाँ लोग अपने जूते उतारते हैं। उसके चाय-पानी के बर्तन अलग होते हैं। उसे खाना अलग परोसा जाएगा और अपने बर्तन वह स्वयं साफ करेगा। यदा-कदा उसके गीत-संगीत के साथ-साथ उसकी विनम्रता की प्रशंसा कर दी जाती है। क्योंकि उसी में जजमान की प्रशंसा निहित है।'

इस अवहेलना से लोक कलाकार को क्षति पहुंची है। किन्तु हानि तो संपूर्ण समाज की हुई है, जो अपनी प्रतिभा का तिरस्कार कर उससे वंचित हुआ जा रहा है उदाहरण के लिए राजस्थान के प्रसिद्ध मारवाड़ी खेल की चंद मंडलियाँ ही अब सक्रिय हैं। बंसीलाल इस विधा के उत्कृष्ट गायन-अभिनेता और निर्देशक हैं। मंडली के सभी सदस्य अनुभवी और सधे कलाकार हैं। राग-रागनियों पर आधारित इस प्रस्तुतीकरण का अपना आवर्तन है। विधा का व्याकरण, सौंदर्यशास्त्र और दर्शन है। पुरुष सहजता से स्त्री रूप रखते हैं और बिना अतिश्योक्ति के भाव-विभोर भूमिकाएँ अदा करते हैं।

बंसी जी आज भी घुंघरू बांधकर नाचने को तत्पर हैं पर पैर की हड्डी में चोट है। उन्हें संगीत नाटक अकादमी से पुरस्कृत किया जा चुका है। सम्मानित कलाकारों के इलाज के लिए निश्चित धन राशि वह लाभ नहीं उठा पाए क्योंकि उनकी अर्जी देर से पहुंची (जैसा उन्हें बताया गया)। केन्द्र सरकार द्वारा दी जाने वाली कलाकार पेंशन भी उन्हें नहीं मिल रही। मंडली में अन्य वरिष्ठ कलाकार हैं किन्तु किसी को भी इसकी जानकारी नहीं है। पूछने पर पता चला भाट राम सहाय भी नहीं जानते व मांगनियार परिवार के बुजुर्ग गायक। जानकारी के अभाव में कलाकार रिपर्टरी कंपनी या प्रोडक्शन ग्रांट जैसी योजनाओं से लाभान्वित नहीं हो पा रहे। वे अलग-थलग रह जाते जैसे रहते आए हैं सदियों से।

हेमनाथ कालबेलिया समुदाय से हैं। बरसों यह परिवार पाटन पंचायत में गाँव के बाहर टाट-तंबू लगाकर अपना बसेरा बनाए रहा। समय के साथ-साथ गांव फैलने लगा। यह जमीन महंगी हो गई और इन्हें वहाँ से भी हटना पड़ा। यह परिवार कुछ दूरी पर बीहड़ कांकड़ में फिर से तंब लगाए, अपना जीवन यापन कर रहा है। लेकिन आसपास के लोगों को यह नहीं भाया। उन लोगों ने रात-बिरात परिवार को परेशान करना शुरू कर दिया। हेमनाथ ने जब पुलिस संरक्षण मांगा, तो उससे मालिकाना हक प्रमाणित करने के लिए कागजात प्रस्तुत करने को कहा गया। कागज उसके पास नहीं थे। सदियों से उस इलाके में रह रहे उस परिवार को यह अधिकार समाज ने दिया ही नहीं था। यानी उसका कहीं भी, किसी भी स्थान पर, कभी भी होना नाजायज था। लेकिन हेमनाथ ने इसे रोकने का प्रयास किया। एक समाज सेवी संस्था के सहयोग से उसकी अर्जी अफसर-मंत्रा तक पहुंची वहाँ से फोन हुए, आदेश आए मगर तहसील-पंचायत में मामला अक जाता। गांव के लोग उसे आवासीय इलाके में कहीं कोई जमीन देने को राजी ही न थे। गुंजाइश थी तो बस श्मशान के पास। हेमनाथ नहीं माना। उसके साथी भी डटे रहे। आखिरकार पिछले विधानसभा चुनाव से थोड़ा छत लायक जमीन का पट्टा उसके हाथ आ गया।

बहुत से लोगों का मानना है कि यदि संस्था का दबाव न होता तो गांव हेमनाथ के लिए एकमत होकर जातिवाद की आड़ लेकर सरल है। इसलिए मोहल्ला या ग्राम सभा में जिसकी आजकल खूब चर्चा है- गरीब और घुमंतू कलाकार समुदाय के सदस्य अकेला और असहाय महसूस करते हैं। क्योंकि वहाँ उनका पक्षधर कोई नहीं होता। यहाँ यह याद दिलाना अनुचित नहीं कि ग्राम स्वराज की संकल्पना पर प्रश्न उठाते हुए आंबेडकर ने कहा था, 'वहाँ की पारंपरिक जातिगत संस्कृति जो अस्पृश्यता और भेदभाव पर टिकी है, दलित वर्ग को बुनियादी अधिकारों से वंचित रखती है। जाति नियंत्रण का तरीका है। ग्राम में प्रजातंत्र के लिए स्थान नहीं, बराबरी और समानता के लिए स्थान नहीं, यह गणतंत्र नहीं, गुणतंत्र का खंडन है, प्रतिवाद है, यदि यह गणतंत्र है तो केवल उन गण का, जिनकी गणना में दलित नहीं आते।

बांदा के बेड़िन समुदाय की अभिनेत्री किरण कहती है, 'कहीं भी चोरी होने पर पुलिस हमारे बच्चों को पकड़ कर ले जाती है या हम पर धंधा करने का आरोप लगाती है।' किरण ने पुलिस द्वारा लगाए गए ऐसे ही एक आरोप को अदालत में चुनौती दी। वर्षों मुकदमा चलने के बाद सबूत पेश न करने की स्थिति में फैसला किरण के पक्ष में आया। बुंदूखान ने दृढ़ता से कहा, 'कलाकार अपने लिए समानता और सम्मान चाहता है और यह भी चाहता है कि उसकी कला की उन्नति हो, उसे विस्तार मलि।' दिल्ली में रहते हुए पूरण भाट ने कई तरह की कठपुतलियों के साथ प्रयोग किया है उसकी कलात्मक खोज नई दिशाएं खोज पा रही हैं।

हाल ही में 'कठपुतली कॉलोनी' के पुनर्विकास का कार्य प्राइवेट बिल्डर के हवाले कर दिया गया। कलाकार को फिर से अपना बसेरा समेटने के लिए कहा जा रहा है। स्थायी पता, निश्चित ठिकाना उसके लिए अभी भी दूर की कौड़ी है।

मैं निर्देशक को नाटक का समानांतर लेखक मानता हूँ

हमारे आधुनिक हिन्दी संसार में आलोचना और संपादन जैसी रचनात्मक और चुनौतीपूर्ण विधा को नई चेतना प्रदान करने वाले प्रभाकर श्रोत्रिय की लेखकीय पहचान का एक और महत्वपूर्ण पक्ष उनका नाटककार होना है। इधर हिन्दी रंगमंच पर जब मौलिक नाट्य कृतियों का लगभग सूखा पड़ा तब श्रोत्रियजी ने इस सन्नाटे में 'इला', 'फिर से जहाँपनाह' और 'साँच कहूँ तो' जैसे विचार प्रवण नाटकों की रचना करते हुए उम्मीद जगायी। इन नाटकों के मंचन हुए। बांग्ला, तेलुगु, मराठी, पंजाबी, ओड़िया, उर्दू, असमिया, गुजराती और अंग्रेजी में इनके अनुवाद हुए और इन प्रयोगों पर मिली-जुली प्रतिक्रियायें भी हुईं। प्रभाकरजी का मानना है कि मंचन नाटक की कसौटी है तथा निर्देशक भी नाटक का समानांतर लेखक है। नाटक को लेकर श्रोत्रियजी की लेखकीय मंशाओं और प्रतिक्रियाओं को उद्घाटित करता रुचि और ज्ञान से भरपूर यह संवाद इस अंक की उपलब्धि है। पेश है रंगमंच के गहरे जानकार और वरिष्ठ लेखक जयदेव तनेजा द्वारा की गई यह विरल वार्ता।

नाटककार प्रभाकर श्रोत्रिय से जयदेव तनेजा की बातचीत

जयदेव तनेजा - डॉ. श्रोत्रिय आप हिन्दी के ऐसे अनोखे आलोचक हैं जो आलोचना से नाटक में आए हैं और वह भी 'इला' जैसे नाटक के साथ। रचनात्मकता की ओर आपका रुझान कैसे हुआ? आपको इसकी प्रेरणा कहाँ से मिली?

प्रभाकर श्रोत्रिय - जयदेव जी, हुआ यह कि मैं एक काव्य की समीक्षा के संदर्भ में श्रीमद् भागवत देख रहा था कि मेरी निगाह सहसा 'इला' प्रसंग पर पड़ गई, मैं चकित रह गया। मेरे मस्तिष्क में बिजली सी कौंधी, मुंह से निकला- 'अरे, यह तो नाटकीय है!' और बिना देर किए उस पुस्तक की समीक्षा एक तरफ रखकर मैं नाटक लिखने लगा। मेरे सामने नए-नए दृश्यपट अनायास खुलने लगे। मुझे सृजन का आनंद आने लगा।

मैंने कई बड़े लेखकों के ऐसे अनुभवों के बारे में पढ़ा था, कि जाने कौन आता है जो रचना लिखा जाता है। मैं कहता था कि यह कोई और नहीं, अंतश्चेतना की जागृति है। सारी सुप्त शक्तियाँ जाग उठती हैं। यह क्षण रचना का बीज-क्षण होता है- एक अद्भुत चमक से भरा।' पर वह मेरा आलोचनात्मक सोच था- उसे मैं प्रत्यक्ष देख रहा था या कहूँ उसकी पकड़ में था। इसे आप चाहें तो प्रेरणा कह लें।

परंतु इस क्षणिक कौंध से तो रचना लिखी नहीं जाती...

- आपने ठीक कहा। पर वह 'प्रेरणा का क्षण' होता है, क्षणिक प्रेरणा नहीं होती। बीज जमीन में दीर्घकाल तक-पकता रहता है, कई बार बरसों तक... कई अंतरालों में। जैसे मेघों की घनी रात में बिजली की एक चमक अंतरिक्ष को आलोकित करती है, तो हमारी आँकों में वह अंतरिक्ष बस जाता है जो उस क्षण वे आलोकित किया है। यह रचना का वणु जगत, उसके आयाम और व्याप्ति है। जब इस दिशा में एक बार चेतना सक्रिय हो जाती है तो शेष रचना व्यापार चलते रहते हैं।

आपको 'इला' लिखने में कितना समय लगा?

- पहली स्क्रिप्ट तो मैंने जल्दी लिख ली, पर वह बेहद कच्ची थी; असल में प्रस्तुति के लिए रचना में बहुत सा काम करना होता है, नए विचार और तमाम आयाम धीरे धीरे खुल कर रचना को एक रूप देते हैं। भाषा और संरचना के स्तर पर भी कठिन परिश्रम करना पड़ता है। पर वह कहीं भी बोझ नहीं होता, बार-बार माँजते, रचते हुए मैं आठवीं पाण्डुलिपि में जाकर संतुष्ट हुआ। इस काम में आठ-नौ माह लगे। पहली और अंतिम स्क्रिप्ट में जमीन आसमान का अंतर था।

आपके इस उत्तर में से बहुत से प्रश्न निकलते हैं, पर मैं उन्हें छोड़कर आपसे केवल यह प्रश्न करना चाहता हूँ कि हमारे पुराणों में ऐसी अनेकानेक घटनाएँ हैं, जिन पर लिखा जा सकता है। आपने 'इला' को ही क्यों चुना?

- रचना का भी कोई 'क्षण' होता है, इसके ऑरबिट में जो चीज आ जाती है वह भी अंतरिक्ष में चक्कर काटने लगती है। हम अपने दैनन्दिन जीवन में बहुत कुछ घटित होता देखते हैं, पर इनमें से कौन सी घटना हमें कब छू जाए कि रचना बन बैठे, इसका कोई गणित तो होता नहीं...

फिर भी डॉक्टर साहब कोई-न-कोई बात तो होती है कि कोई लेखक विशेष वस्तु चुनता है...

एक सिद्ध आलोचक से बच निकलना बड़ा मुश्किल है। पर जयदेव जी, क्या लेखक ही 'वस्तु' को चुनता है, 'वस्तु' लेखक को नहीं चुनती? (सोचकर) शायद यह परस्पर होता हो! फिर भी आपका सवाल अपनी जगह मुकम्मिल है।

(हंसी) हाँ वह तो है ही! कोई भी किसी को चुने कुछ 'विशेष' तो दोनों तरफ होता ही है?

- कथा में तो बहुत कुछ चमत्कार, असाधारणतया और संभावनाएँ थीं, उसने मेरे मन में 'अतीत' को वैसे ही उजागर कर दिया जैसे अंधेरे में बिजली चमकने का उदाहरण दिया है। यह अतीत ही नहीं था, जिसे चेतना देख रही थी, वह वर्तमान को भी दीप्त कर रहा था। मैंने ऐसा लम्बा फलक कभी क्षणभर में न देखा था। उसने अपने पाश में मुझे बाँध लिया था, यह तो हुआ। पर आपके प्रश्न का दूसरा पक्ष बहुत मुश्किल में डालने वाला है। पर आपको संतुष्ट करने की कोशिश करता हूँ। वस्तु के अंतश्चेतना में कौंधने में मेरा कोई जीवनानुभव नहीं रहा होगा, यह कहना बेईमानी होगी, उस रूप में भले ही नहीं, पर उस अनुभूति में तो था। जैसे शोषित पीड़ितों और भूख से बिलबिलाते बच्चों पर रचना लिखने में लेखक के एक दिन भूखे रहने की अनुभूति अपनी संवेदना से जुड़कर एक मार्मिक रचना-रूप लेते हैं, वैसे ही दूर अनुभूति का कोई अंश रचना-क्षण को उत्प्रेरित करता है और लेखक में यह क्षमता होती है कि वह उसका विस्तार कर सके। इसे मनोविज्ञान में 'एनलार्ज इगोइजम' कहते हैं। जैसा आप जानते ही हैं। लेखक में यह शक्ति भी होती है, कि वह रचना से अपने निशान मिटाकर उसे 'आब्जेक्टिव' बना देता है। लेकिन यह सब 'सृजनानुभव के दौर में होता है, 'बीज-क्षण' में जिसे हम 'प्रेरणा का क्षण' कहते हैं- उसमें नहीं; उसमें तो जीवनानुभूति एक 'कारण' की तरह दीप्त होती है, जिसकी चर्चा दर्शन करता है।

इस पर आपसे विस्तृत संवाद हो सकता है, पर मैं विधा को लेकर प्रश्न करूँगा, आप आलोचना के आदमी और आपने सृजन की सबसे कठिन विधा चुनी जिसके लिए रंगमंच की गहरी संलग्नता और ज्ञान चाहिए। क्या आपको रंगमंच का अनुभव था?

- सिर्फ व्यावहारिक ज्ञान था, क्योंकि मैं एम.ए. में नाट्य शास्त्र पढ़ाता था। जिसमें भारतीय और पाश्चात्य रंग मंच का ज्ञान जरूरी था। नाटक देखने में मेरी रुचि थी जैसी आम दर्शक की होती है। बचपन में दो-एक नाटकों में अभिनय किया था। हरिकृष्ण प्रेमी का एक नाटक याद आता है- 'प्रताप प्रतिज्ञा' उसमें मैं शक्ति सिंह बना था- राणा प्रताप का छोटा भाई, जिससे तीखे संवादों में दोनों ओर तलवारें खिंच गई थीं। मंच पर तलवारों की खनखनाहट हो रही थी, इसी दौर में प्रताप की तलवार शक्ति सिंह की भौंह पर लग गई और खून की धारा बह गई, पर यह नाटक पूरा किया गया।

दर्शकों को तो नाटक में यथार्थ का मजा आया होगा। खून बहाकर शक्तिसिंह ने पुरस्कार पा लिया था। पर आज तक भौंह पर इस नाटक का निशान बाकी है।

(हंसी) तो रंगमंच का यह अनुभव था आपके पास?

- शूर-वीरों जैसा (हँसी) ... पर अब असल बात पर आता हूँ। न मेरे पास रंगमंच का अनुभव था, न मैं इसे एक नाटककार के लिए जरूरी मानता हूँ। जयशंकर प्रसाद पर जब ऐसे आरोप लगाए गए तो उन्होंने कहा था- 'मैंने नाटक रंगमंच के लिए नहीं लिखे, मेरे नाटक के अनुरूप रंगमंच बनना चाहिए।' इसके भीतर तत्कालीन पारसी थियेटर पर आक्रमण था, जिसकी प्रतिक्रिया में उन्होंने नाटक लिखने का संकल्प किया था, पर आखिर प्रसाद का रंगमंच बना और यह ब.व. कारंत और शांता गांधी ने उनकी मृत्यु के चालीस साल बाद बनाया। कहीं गिरीश कार्नाड

न मेरे पास रंगमंच का अनुभव था, न मैं इसे एक नाटककार के लिए जरूरी मानता हूँ। जयशंकर प्रसाद पर जब ऐसे आरोप लगाए गए तो उन्होंने कहा था- 'मैंने नाटक रंगमंच के लिए नहीं लिखे, मेरे नाटक के अनुरूप रंगमंच बनना चाहिए।' इसके भीतर तत्कालीन पारसी थियेटर पर आक्रमण था, जिसकी प्रतिक्रिया में उन्होंने नाटक लिखने का संकल्प किया था, पर आखिर प्रसाद का रंगमंच बना और यह ब.व. कारंत और शांता गांधी ने उनकी मृत्यु के चालीस साल बाद बनाया।

ने भी अपने साक्षात्कार में कहा था कि उन्हें रंगमंच का कोई अनुभव नहीं था, जब उन्होंने नाटक लिखना प्रारंभ किया- और इसे वे जरूरी भी नहीं मानते।

एक लेखक के नाते मैं यह अनुभव करता हूँ निर्देशक की विधा लेखक से अलग है। उस विधा में उसे नाटक पर काम करना है। उसकी यह जिम्मेदारी भी है कि नाटक में निहित खूबियों को उभारे और उसकी आत्मा को अपनी विधा के माध्यम से अधिक ताकतवर रूप में प्रेक्षकों के सामने रखे। मैंने निर्देशकों और पात्रों का अथक परिश्रम देखा है, ऐसे में मैं निर्देशक को नाटक का समानान्तर लेखक मानता हूँ।

लेकिन यहाँ मैं एक अनुभव और सोच आपसे बांटना चाहता हूँ। वैसे तो सोच और रचना में यह अंतर है कि सृजन करते समय हर लेखक के मन में बिम्ब बनता है, जबकि विचार प्रायः बिम्बहीन होते हैं। इसलिए लेखक की हर रचना उसके भीतर अभिनय करती है। इसका लाभ एक नाटककार को भी मिलता है, पर जब कोई लेखक रचना को नाटक के रूप में लिखता है तो तकनीकी रूप से न सही, अनुभूति के रूप में उसके भीतर एक रंगमंच जन्म लेता है, उसे कोई जगह कोई पात्र और सामने बैठे दर्शक नजर आते हैं जो हँस रहे हैं, अभिभूत हो रहे हैं, बेचैन प्रश्नाकुल हो रहे हैं और शायद निराश भी हो रहे हैं- ये सोच उसके मन में सामने से चेहरे पर पड़ी रौशनी की तरह होते हैं... आप क्षमा करें, एक प्रतिष्ठित नाट्यालोचक के सामने यह मेरा बड़बोलापन है।

(हँसी) नहीं, आप भी तो आलोचक हैं... परंतु एक-दूसरे की रचना-प्रक्रिया न जानने के कारण अक्सर लेखक और निर्देशक के बीच टकराव हुआ है। लेखक को लगता है कि उसके नाटक के साथ छेड़छाड़ हुई है जिसे वह पसंद नहीं करता। इसके बारे में आपका का दृष्टिकोण है?

- जयदेवजी, मैं महसूस करता हूँ कि अच्छा निर्देशक नाटक की दूसरी शक्ति है। नाटक की सफलता का बराबर श्रेय मैं निर्देशक को देना चाहता हूँ। इसी तरह उसकी असफलता के लिए भी निर्देशक बराबर का दोषी है, क्योंकि नाटक का चयन वह करता है, रंगमंच को अत्यंत समृद्ध और आकर्षक भाषा उसके पास है, पाठक के मनोविज्ञान और प्रतिक्रिया की पूर्व कल्पना की उससे उम्मीद की जाती है, पात्रों का चयन संवाद की प्रस्तुति आदि पचीसों चीजें उसी के अधीन होती हैं। एक लेखक के नाते मैं यह अनुभव करता हूँ निर्देशक की विधा लेखक से अलग है, उस विधा में उसे नाटक पर काम करना है, उसकी यह जिम्मेदारी भी है कि नाटक में निहित खूबियों को उभारे और उसकी आत्मा को अपनी विधा के माध्यम से अधिक ताकतवर रूप में प्रेक्षकों के सामने रखे। मैंने निर्देशकों और पात्रों का अथक परिश्रम देखा है, ऐसे में मैं निर्देशक को नाटक का समानान्तर लेखक मानता हूँ। अगर हम उसे इतनी जिम्मेदारी देते हैं और उससे इतनी अपेक्षा करते हैं तो उसे महत्व भी वैसा ही मिलना चाहिए। परंतु मैं इस बात का सामान्यीकरण नहीं रखता हूँ और दोनों ओर की श्रेष्ठता को ही मानक मानता हूँ।

नाटक को यदि एक और प्रतिभा का सहयोग मिलता है तो नाटककार को खुरा होना चाहिए। कई बार अच्छे, निर्देशक नाटक की शक्ति को दोगुना बढ़ा देते हैं। ऐसे में यदि उन्हें नाटक के मंचन में थोड़ी बहुत छेड़छाड़ करनी पड़े तो यह उसकी विधा की आवश्यकता से जोड़नी चाहिए, उसकी हठधर्मी या दखलंदाजी से नहीं। नाट्य कर्म अकेले लेखक से संभव नहीं है, निर्देशक और उसकी टीम के बिना उसकी सार्थकता नहीं है। इसलिए मैं निर्देशक को पूरे अधिकार देने के पक्ष में हूँ और मैंने यह भी देखा है कि निर्देशक अधिक से अधिक कोशिश करता है कि वह कृति को नष्ट नहीं करता, उसे तरोताजा देखना चाहता है। दोयम दोनों ही हो सकते हैं लेखक भी और निर्देशक भी, इसलिए हमें हमेशा अच्छे लेखक और अच्छे निर्देशक को अपने विचार केन्द्र में रखना होता है।

जब आपका पहला नाटक मंचित हुआ तो क्या निर्देशक ने आपको परिवर्तन का कोई सुझाव दिया था, या बाद में मंचनों में ऐसा हुआ था?

मैंने पूरे महीने पूरे समय रिहर्सल देखा- एक कोने में बैठकर। पर न मैंने एक शब्द कहा और न निर्देशक ने पूछा। मैंने सदा निर्देशक और पात्रों का उत्साह बढ़ाया।

अब, आपने कहा तो सोचता हूँ कि निर्देशक ने ऐसा क्यों नहीं किया, जबकि उसने उस नाटक को संपादित किया था, सिर्फ छोटा करने के लिए नहीं बल्कि शायद नाटक की अन्य जरूरतों के लिए भी। और बड़े अधिकार के साथ।

मुझसे शायद उसने इस आशंका से कुछ न पूछा हो कि मैं नाटक में मीन मेख निकालूँगा, उसकी अंतर्योजना और तन्मयता भंग करूँगा- जैसी कि लेखकों की आदत होती है। और यह भी नहीं है कि मुझे कुछ भी अखरा न हो!

...फिर भी आपने अपनी आपत्तियाँ क्यों नहीं रखीं? आखिर कृति तो आपकी ही थी...?

प्रिय भाई, नहीं, अब कृति उसकी थी। यह नाटक मेरे सामने खेला गया, पर पचीसों जगह नाटक हमारी अनुपस्थित में होते हैं, हमारे न रहने पर भी, यदि उनमें शक्ति हुई, तो होंगे। हम कहाँ-कहाँ जाकर आपत्तियाँ दर्ज कराएँगे। दर्शकों की प्रतिक्रिया निर्देशकों को अपनी जगह दिखा देगी।

जिस तरह निर्देशक नाटक का 'इंप्रूवाइजेशन' करता है वैसे ही अपने प्रदर्शन को भी हर बार इम्प्रूव करता है; क्योंकि मंचन हमेशा रचनात्मक

होता है और कभी दोहराया नहीं जा सकता है। अपनी बात कहूँ तो मैं अपने नाटक का एक दर्शक होता हूँ। मंचन के बाद उतनी प्रतिक्रिया भी प्रकट कर सकता हूँ।

इस पहले मंचन की बात आपने की तो बता दूँ कि निर्देशक अशोक बुलानी नामी गिरामी नहीं थे, परंतु उनका पात्रों का चयन अद्भुत था। हर पात्र बेहद उपयुक्त, संवाद जो उस नाटक का प्राण थे अत्यंत शुद्ध और अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले उच्चारण सहित, कि अगर यह न होता तो नाटक नष्ट हो जाता। अपने कूरियोग्राफिस्ट के रूप में प्रभात गांगुली को चुना था अत्यंत प्रसिद्ध और अनुभवी। उन्होंने स्त्री-पुरुष परिवर्तन वाले दृश्य अकल्पनीय रूप से रचे थे। यही बिन्दु था जिसे लेकर मंचन के प्रति आशंका जताई गई थी। रूपाली वालिया जो इला की भूमिका में थीं कथक की प्रसिद्ध नृत्यांगना थीं, खानवलकर ने सुद्युम्न की मार्मिक भूमिका निभाई, सुनीति के रूप में रीता वर्मा जो जया बच्चन जी की बहन हैं। अबरार हस ने मनु और उदय शहाणे ने वशिष्ठ की अच्छी भूमिका निभाई। ऐसी टीम को लेकर किया 'इला' का पहला मंचन वे अपूर्व सफलता हासिल की। छोटी बातों को छोड़ कर मैं इतनी बड़ी सफलता को छोटा करता क्या?

जब नाटक देख कर मैं बाहर निकला तो भारत भवन, रंग मंडल के कारंतजी के सहायक निदेशक पेड़ के नीचे खड़े मिले और हताश से बोले- इसमें निर्देशक का तो कोई काम ही नहीं हुआ। मैं कुछ नहीं बोला, बस यह देख पाया कि जैसे वे किसी सृजनात्मक बेचैनी से विह्वल थे। बुलानी का जो काम था, वह निर्देशक का नहीं तो किसका था?

क्या प्रतिक्रियाओं और प्रस्तुतियों को देख कर अपने-अपने नाटकों में परिवर्तित किए हैं।

- हाँ, मैं दर्शक के रूप में या अपने नाटकों को समीक्षा के पाठक के रूप में हमेशा एक जिज्ञासु विद्यार्थी रहा हूँ। मैंने उनसे सीखा है और अगर मुझे जरूरी लगा तो मैंने संशोधन भी किया है। डॉ. तनेजा, आपने ही 1989 में 'सारिका' में डूब की पहली समीक्षा की थी और कई सुझाव दिए थे। इसी तरह कई मंचनों में कई बातें सामने आई थीं। इला के दूसरे संस्करण के समय मैंने सभी समीक्षाओं को सामने रखा था और कुछ जरूरी लगने वाले संशोधन किए थे। 'इला' के अन्य संस्करण के समय मैंने डॉ. गिरिश रस्तोगी द्वारा गोरखपुर में किए मंचन की नाट्य स्क्रिप्ट मंगवाई और उचित लगने वाले संशोधन किए। ऐसा भले ही बहुत कम किया हो, पर किया और उससे ज्यादा सीखा।

मैं दर्शक के रूप में या अपने नाटकों को समीक्षा के पाठक के रूप में हमेशा एक जिज्ञासु विद्यार्थी रहा हूँ। मैंने उनसे सीखा है और अगर मुझे जरूरी लगा तो मैंने संशोधन भी किया है। डॉ. तनेजा, आपने ही 1989 में 'सारिका' में डूब की पहली समीक्षा की थी और कई सुझाव दिए थे। इसी तरह कई मंचनों में कई बातें सामने आई थीं। 'इला' के दूसरे संस्करण के समय मैंने सभी समीक्षाओं को सामने रखा था और कुछ जरूरी लगने वाले संशोधन किए थे।

आपके नाटक 'साँच कहूँ तो' का मंचन दिल्ली में 'मिराण्डा हाउस' में हुआ था, सुना है वह आपको पसंद नहीं आया था और अनेक प्रबुद्धजनों को भी, जिन्होंने नाटक देखा था।

- यह सही है। उसे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्रशिक्षित निर्देशक ने किया था। मैं उस नाटक को देखकर स्तब्ध रह गया। निर्देशक ने अपना पूरा ज्ञान, समस्त रंग-युक्तियाँ, आदिवासी नृत्य तक उस नाटक में शामिल कर दिया था। दर्शकों ने उसे एक हास्यास्पद प्रस्तुत कहा, परंतु युवा निर्देशक उसे एक सफल प्रस्तुत मान रहा था। एक दिन बातचीत में मैंने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक प्रो. देवेन्द्र राज 'अंकुर' को इसकी शिकायत की तो उन्होंने यह बात नजरअंदाज करते हुए कहा- 'यह लेखक और निर्देशक का सनातन द्वन्द्व है। यही नाटक मैंने पहले ग्वालियर में डॉ. कमल वशिष्ठ के निर्देशन में देखा था, प्रसिद्ध संगीतकार श्याम अग्रवाल ने इसके गीतों को संगीत में पिरोया था। नाटक प्रभावशाली हुआ था।

आपका तीसरा नाटक 'फिर से जहाँपनाह' भी मैंने पढ़ा है। संरचना की दृष्टि से मुझे लगा कि आपने उसे दो अलग-अलग खंडों में लिखा है और बाद में एक पात्र कबीर के माध्यम से जोड़ने की कोशिश की है या यूनिटी लाने की कोशिश की है। क्या आप इस प्रयास में सफल हुए हैं?

मैंने उसे अलग-अलग खण्डों में लिख कर तो नहीं जोड़ा, पर उसे पढ़कर यह धारणा अस्वाभाविक नहीं लगती। मैंने उसे एक साथ परिकल्पित किया था और कबीर की रचना भी प्रारंभ से ही की थी। मैं दो समयों के सत्ता चरित्रों और सत्ता प्रणालियों द्वारा यह कहने की कोशिश कर रहा था कि चाहे जो युग हो या कोई भी व्यवस्था हो, सत्ता का चरित्र समान होता है, वही शोषण वही-क्रूरता, चापलूसी, अय्याशी, भ्रष्टाचार, छल-छल, षड़यंत्र, उठा-पटक बनी रहती है। हर सत्ता साधारण आदमी का गरीब का शोषण करती है वह सिर्फ अपनी शैली बदल लेती है। इसमें दो युग हैं- प्रजातंत्र और एकतंत्र का युग; जो पात्र एक युग में इन सत्ता-चरित्रों का विरोधी होता है वही जब दूसरे युग में सत्ता में आ जाता है तो वही सब करने लगता है। इसीलिए दोनों खंडों के पात्र पर उनके नाम बदले हुए हैं। पद बदले हुए हैं। तरीके बदले हुए हैं। 'कबीर' जनता का प्रतीक है जो दोनों में एक है। वह शाश्वत रूप से इस व्यवस्था का प्रेक्षक है और जनता को जगाता भी है।

नाटक कहता है कि सत्ता भ्रष्ट नहीं करती है, फिर चाहे जिस रूप और युग में हो। परंतु अंत में कहा गया है कि संसार को सभी व्यवस्थाओं में प्रजातंत्र एकमात्र विकल्प है, फिरवह चाहे जितना विकृत हो। बस जनता को संगठित और जाग्रत करता है। डॉ. देवेन्द्रराज अंकुर ने इसे पाण्डुलिपि में देखा था और विस्तृत सुझाव दिए थे, दो खण्डों की बात तो उन्होंने नहीं कही थी, परंतु मुखौटा शैली अपनाने का सुझाव दिया

था। उनके सुझावों में मुझे जो उचित लगे उन्हें शामिल करने की कोशिश की पर मुखौटा शैली न अपना सका। भोपाल में जयंत देशमुख ने इसके अतीत वाले खंड का मंचन किया था। दो-एक जगह हुआ भी था, परंतु अवधारणा की परपक्वता के बावजूद मुझे यह नाटक कमजोर लगा था और मैंने इसमें कई बार फेर-बदल भी किए। परंतु लगता है नाटक फिर नए सिरे से लिखने की मांग करता है। संभव है अगले संस्करण में आप उसे नए रूप में देखें।

मैंने देखा है कि अधिकांश भारतीय नाटककारों ने अतीत को अपने नाटकों का आधार बनाया है, इसका मूल कारण क्या है? क्या यह सुविधाजनक है?

यह सुविधाजनक तो नहीं है। क्योंकि अतीत से एक बनी बनायी कथा तो मिल जाती है, पर कोई भी समकालीन दर्शक पुराणों को या इतिहास को नाटक में देखने नहीं जाता, उसे नाटक में अपना समय चाहिए और नाटककार को अपना समय जो कल भी प्रासंगिक हो। तीनों की मांग अलग अलग होती है इनमें 'अभेद काल' की सृष्टि करना सबसे जटिल काम है। परन्तु इसे किए बिना नाटक की कोई अर्थवेत्ता नहीं है।

आपका पहला प्रश्न और भी जटिल है। यह सच है कि अधिकांश भारतीय नाटक पुराण या इतिहास के आधार पर लिखे गए हैं।

पौराणिक साहित्य का आधार लेने का सबसे बड़ा कारण तो यह हो सकता है कि भारत का पौराणिक साहित्य दुनिया में सबसे अधिक समृद्ध है। उसमें असंख्य प्रतीकात्मक फेंटेसियाँ हैं, विविधता है और सबसे बड़ी बात है कि वह लचीला है। उदाहरण के लिए पूरी दुनिया में, पुराणों में धार्मिकता प्रधान होती है और जबरदस्त रिजिडिटी है। परन्तु भारतीय पुराणों मे अद्‌भुत लचीलापन है और मिथकीय बहुलता के लिए बहुत अवकाश है।

दूसरी बात यह है कि यहाँ 'काल-बन्ध' नहीं है विराट काल यहाँ प्रवाहित है। एक पात्र भाँति-भाँति के कालों में है, कहीं वह पुराना नहीं है, बूढ़ा है तो हर युग में बूढ़ा है, जवान है तो हर युग में जवान है, इसलिए कथाओं की यात्रा पात्रों के साथ निर्बाध होती रहती है।

तीसरी बात यह है कि उसकी आनुवांशिकता अक्षुण्ण है और जबसे डी.एन.ए. का मानवजाति को ज्ञान हुआ है तब से यथार्थ की अवगति और उच्चतर मूल्यों के प्रति मनुष्य की गूढ़ ललक का 'गत्यात्मक समन्वय'। मैं आपके प्रश्न का उत्तर शायद उतना सटीक नहीं दे पाया हूँ जितना डॉ. देवराज ने इस एक वाक्य में दे दिया है।

अंत में एक प्रश्न। आपकी आलोचना सर्जनात्मक होती है और नाटक तो सृजन-विधा है ही। इन दोनों की सर्जनात्मकता में आपको क्या अंतर लगा?

यह एक जटिल प्रश्न है और सच तो यह है कि इस पर पहले मैंने विचार नहीं किया और न किसी ने मुझसे पूछा। अब लगता है कि आलोचना और नाटक की सर्जनात्मकता के अंतर्संबंध पर मुझे लंबा लेख लिखना चाहिए. पर यहाँ इसका अवकाश नहीं है इसलिए कुछ बातें सूत्र रूप में कह सकता हूँ।

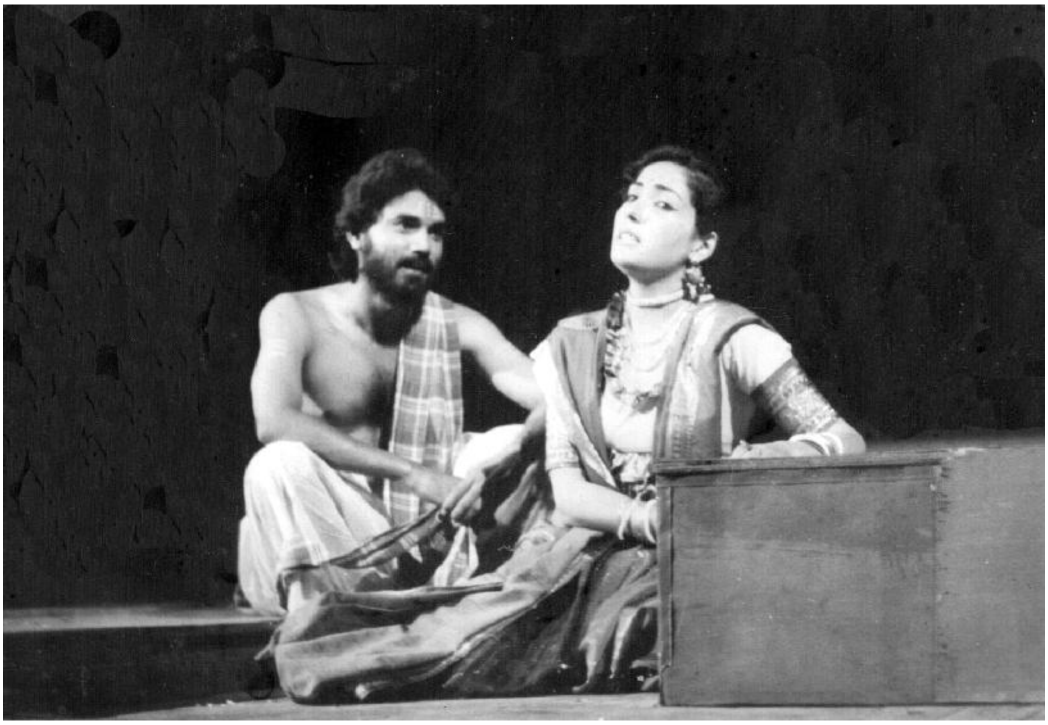

भोपाल के 'रंग समूह' द्वारा प्रभाकर श्रोत्रिय के नाटक 'इला' का प्रथम मंचन। निर्देशक - अशोक बुलानी। कलाकार - प्रवीण महुवाले (बुध) और रुपाली वालिया (इला)।

मेरे विचार से सर्जनात्मकता लेखन के 'उपादनों' में नहीं है, उसके अंतर्निहित 'गुण' में है। आनंदवर्धन ने एक मार्मिक बात कही है कि सुंदरता बाह्य उपादानों, यानी आँख, नाक, कपोल आदि में नहीं है, यह उससे परे 'लावण्य' में है। जब गोरे रंग को सुंदरता का प्रतीक माना जाने लगा तो इसके खिलाफ कहा गया- 'ब्लैक इज ब्यूटीफुल' इसमें भी शायद यही कहा गया था कि रंग-रूप को आक्रांत करने वाला 'लावण्य' ही सौन्दर्य है, आप नाटक उसे 'रंग-रूप' से परिभाषित करते हैं।

अगर मैं कहूँ कि आलोचना में बौद्धिकता, तर्क, विश्लेषण, विवेक, तटस्थता या वस्तुगतता आदि होती है, जबकि रचना में अनुभूति सौन्दर्य, कल्पना आदि आदि होती है, तो क्या यह उचित होगा? क्या रचना के भीतर आलोचनात्मक गुण, बौद्धिकता, विवेक, निरपेक्षता वगैरह नहीं होती है? इसी तरह आलोचना में अनुभूति, सौन्दर्य-बोध आदि नहीं होते- अगर न होते तो वह सुंदर की अनुभूति कैसे कर पाती रचना में पगे बिना या स्वयं रचनात्मक हुए बिना क्या सच्ची और आश्वस्त करने वाली आलोचना लिखी जा सकती है? इसलिए यह भेद मूलतः वह यह बात ज्यादा समझने लगी है कि हमारी मूल वस्तु किस तरह कालयात्रा करती है। खैर, आनुवंशिकता का नव्य रूपायन हमको चमत्कृत करता, मुग्ध करता और अपने बोध जैसा लगता है। पुराणों के हम इतने मायावी रूप बना सकते हैं जिससे वर्चुअल रियलिटी या वायवीय यथार्थ विभिन्न समयों को आक्रांत करता चलता है। पाठक को अपना सा लगता है। इतिहास पर आधारित कम रचनाएँ हैं और उनका जीवन इतना दीर्घ नहीं होता और होता है तो उस रचना में अखूट सर्जना शक्ति की जरूरत है। इतिहास का भाँति-भाँति से मूल्यांकन हुआ है, विश्लेषण हुआ है और नए अर्थ निकाले गए हैं इसलिए साहित्य को वह सृजन-स्रोत लगता है।

अत्यंत प्रतिष्ठित सांस्कृतिक आलोचक डॉ. देवराज ने अपनी पुस्तक 'दर्शन, अध्यात्म और संस्कृति' में लिखा है कि 'जिसे हम स्तरीयता कहते हैं, उसमें यथार्थ की अवगति और उच्चतर मूल्यों के प्रति मनुष्य को गूढ़ ललक का गत्यात्मक समन्वय रहता है। इस दृष्टि से डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय का 'इला' नाटक आधुनिक बन पड़ा है। विषय और विवरणात्मक उपस्थापन दोनों दृष्टिकोण से वैसा सफल उपस्थापन न कर सकने के कारण प्रसाद की 'कामायनी' मेरी दृष्टि में 'इला' की तुलना में उन्नीस ही ठहरती है।' क्या आप समझते हैं कि 'इला' कामायनी से बड़ी कृति है?

डॉ. देवराज बहुत बड़े आलोचक हैं, न मैं उनके कथन पर टिप्पणी करने लायक हूँ न आपके प्रश्न का उत्तर देने लायक। बस यही कहूँगा कि आप कृपया 'संदर्भ' पर विचार कर लें। होने का कारण डॉ. देवराज से हम जरूर ले सकते हैं-

यथार्थ की अवगति और उच्चतर मूल्यों के प्रति यह की गूढ़ ललक का 'गत्यात्मक समन्वय'। मैं प्रश्न का उत्तर शायद उतना सटीक नहीं दे पाया जितना डॉ. देवराज ने इस एक वाक्य में दिया।

इला : रीता वर्मा (सुमति) और सुधीर खानवलकर (सुद्युम्न)

अबरार हसन (मनु) और शिवांगी पवार (श्रद्धा)

रंगभूमि के अनत

कमल किशोर गोयनका

अभिमन्यु अनत के कथा एवं काव्य-साहित्य से हम जितने परिचित हैं, उतने उनके नाटक-कर्म से नहीं हैं, जबकि अनत का रचना-कर्म नाटक से ही शुरू हुआ तथा लगभग छः दशकों तक वह उनकी रचनात्मकता का महत्वपूर्ण अंग रहा है। अनत का कथा-साहित्य, जिसमें 32 उपन्यास तथा 8 कहानी संग्रह हैं, विगत चार दशकों से निरन्तर प्रकाशित होता रहा है और उनका एक पाठक वर्ग निर्मित हो गया है तथा उनकी ख्याति का आधार भी यही कथा-साहित्य रहा है, किन्तु इसके विपरीत 1977-1995 के बीच उनके केवल 5 नाटक ही छपे हैं और उनके कई एकांकी, पूर्ण नाटक तथा दूरदर्शन धारावाहिक अभी तक अप्रकाशित रूप में फाइलों में पड़े हैं। इसके साथ भारत में उनके एक-दो नाटकों का मंचन भी हुआ, और 'गूंगा इतिहास' का सन् 1984 में जब दिल्ली में मंचन हुआ तो इन पंक्तियों के लेखक ने उसे देखा था और उसका प्रस्तुतिकरण अत्यन्त प्रभावशाली था।

एक बड़ा कारण यह भी रहा कि अभिमन्यु अनत जब भी भारत आये, और मैं समझता हूँ कि उन्होंने 30-35 यात्राएँ अवश्य ही भारत की हैं, तब उनके लेखकीय व्यक्तित्व, प्रसिद्ध उपन्यास, लाल पसीना तथा मॉरिशस में हिन्दी भाषा एवं साहित्य की ही प्रमुखता से चर्चा हुई और उन्होंने अपने नाटक-कर्म की प्रायः चर्चा कभी नहीं की। अनत के नाटकों की पहली बार चर्चा भारत में मेरी पुस्तक 'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत' (1985) में हुई, जब मैंने अभिमन्यु से उनके नाटक-कर्म पर कुछ प्रश्न किये। अभिमन्यु ने बताया कि मॉरीशस में राजा हरिश्चन्द्र, रामायण महाभारत आदि से सम्बन्धित नाटकों का बोलबाला था, किन्तु वह सन् 1940-50 के आसपास समाप्ति पर था। उस परम्परा की समाप्ति के 20-25 वर्ष बाद मैंने हिन्दी रंगमंच को जीवन दिया, लेकिन यह झिझक बनी रही कि धार्मिक नाटकों के दर्शक आधुनिक समस्याओं पर लिखे नाटक पसन्द आयें या नहीं, लेकिन उन्होंने सत्रह वर्ष की आयु में गाँव के कुछ मित्रों के साथ, 'अजन्ता आर्ट्स' संस्था की स्थापना की और अपना पहला नाटक 'परिवर्तन' को जब त्रिओले के शिवालय के प्रांगण में मंचित किया तो हजारों दर्शकों ने इसे देखा और उन्होंने नियमित नाट्य-मंचन की माँग की। इस नाटक के इश्तहार हाथ से लिखे थे और तीन मील लम्बे गाँव की लगभग सभी दुकानों पर चिपकाये गये थे। इन दर्शकों में अधिकांश ऐसे थे जिन्होंने पहली बार नाटक देखा था, परन्तु नाटक के जीवन्त तथा प्रभावशाली मंचन ने अभिमन्यु अनत को छोटी आयु में ही एक सफल नाट्य-लेखक, निदेशक और अभिनेता के रूप में स्थापित कर दिया।

मॉरीशस में जब टेलीविजन का आगमन हुआ तो अभिमन्यु ने 'अजन्ता' नामक संस्था की स्थापना की और वे इसमें तीस स्त्रियों को अभिनेत्री बनाकर शामिल करने में सफल हुए। आरम्भ में नारी पात्रों के अभिनय के लिये स्त्रियाँ तैयार नहीं होती थीं, किन्तु 'अजंता' में वे इतनी अभिनेत्रियाँ बनाने में सफल हुए। मॉरीशस के परिवेश में अभिमन्यु की यह बड़ी उपलब्धि थी। अभिमन्यु अनत ने मेरे एक प्रश्न के उत्तर में कहा था कि नाट्य लेखन में मुझे दर्शकों की माँग पर समझौता करना पड़ता था, अतः ब्रेख्त, एनेस्को और बेकेट से प्रभावित होकर भी वैसे नाटक नहीं लिख सका, क्योंकि उन महान नाटककारों के सत्य को मेरे गाँव के दर्शक अपना सत्य कभी नहीं मानते। यही वजह है कि अपने नाटक में मैंने साहित्य को कम प्रवेश होने दिया है, सम्पर्क और संवाद को ज्यादा महत्व दिया है। नाटक के मंचन के समय पूर्वाभिनयों के लिए जो परेशानियाँ सामने आती थीं, उनसे जूझकर मैंने हमेशा शक्ति ही पाई और थकान अनुभव नहीं की। अपने एक मित्र के सहयोग से जिस दिन मैंने हिन्दी नाटक को सरकारी स्तर पर युवा प्रतियोगिता में शामिल कराया, उस दिन मुझे अपने नाट्य-जीवन की सार्थकता का अनुभव हुआ। आज मॉरीशस में हिन्दी के पचासों रंगकर्मी हैं और हिन्दी रंगमंच पर बादल सरकार, विजय तेंदुलकर, गिरीश कर्नाड, मोहन राकेश आदि के साथ अभिमन्यु अनत तथा हिन्दी के नये नाटककारों के नाटकों का भी मंचन होता है और प्रतिवर् सरकार के द्वारा नाटक प्रतियोगिता का आयोजन होता है। भारत से मोहन महर्षि कई वर्षों तक मॉरीशस में रहे और उन्होंने हिन्दी नाटक के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। अभिमन्यु अनत के नाटक 'उर्मिला' में उर्मिला का अभिनय करने के लिए भोपाल की विभा मिश्रा मॉरीशस गईं और इसका मंचन 18 अक्टूबर, 1995 को महात्मा

गांधी संस्थान, मॉरीशस में हुआ तथा पोर्टलुई थियेटर में भी इसे प्रदर्शित किया गया। इस नाटक की सफलता ने अभिमन्यु अनत की नाट्य परम्परा को और सशक्त एवं गतिमान बनाया और उनके दीर्घ नाट्य जीवन में एक और उपलब्धि के रूप में अंकित कर दिया।

अभिमन्यु अनत ने 'अजन्ता' मंच के लिए लगभग 40 नाटक लिखे, उनका निर्देशन किया तथा अभिनय भी किया। दूरदर्शन पर उनके नाटक, एकांकी धारावाहिक रूप में दिखाये गये और पिछले दिनों तक वे ऐसे ही नाट्य-कर्म में व्यस्त रहे। उनकी व्यस्तता कुछ ऐसी रही कि उनके 'विरोध' (1977), 'तीन दृश्य' (1981), 'गूंगा इतिहास' (1984), 'रोक दो कान्हा' (1986) तथा 'देख कबीरा हाँसी' (1995) आदि नाटक ही प्रकाशित हो सके हैं और बड़ी मात्रा में उनके नाटक, एकांकी आदि अप्रकाशित हैं। अभिमन्यु अनत हिन्दी के सम्पूर्ण प्रवासी साहित्य में एक मात्र ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने लगभग 55-60 वर्ष रंगकर्म को दिये हैं, एक भरपूर रंग-मंडल की रचना की है, नाटकों की स्वयं रचना की, उनका निर्देशन एवं अभिनय किया, लेखन-मंचन निर्देशन अभिनय को एकसूत्र में पिरोया, हिन्दी नाटक को आधुनिक परिस्थितियों तथा समस्याओं से जोड़ा, सामाजिक एवं राजनीतिक नाटकों का नया युग शुरू किया, हिन्दू मिथक महाकाव्यों पर आधुनिक संदर्भों से पूर्ण नाटकों की रचना एवं मंचन कराया, अभिनेताओं की नई पीढ़ियों को तैयार किया और मॉरीशस में हिन्दी नाटकों के मंचन को एक राष्ट्रीय उत्सव बना दिया। अभिमन्यु अनत के इस नाट्य-कर्म की उपलब्धियों की चर्चा भारत के हिन्दी नाट्य संसार में कमी नहीं हुई, जिसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जा सकता है। हमारे यहाँ हिन्दी नाटक के अभावों की खूब चर्चा होती है, किन्तु नाटक की उपलब्धियों के प्रति हम उदासीन एवं अनजान बने रहे।

यहाँ अभिमन्यु अनत का नाटक 'गूंगा इतिहास' प्रस्तुत है। अन्य देशों की तरह मॉरीशस का इतिहास भी राजा-महाराजा, मंत्री-सेनापति, राज्यपाल-सिपहसालारों के वर्णन से भरा है और उसमें भारत से गये प्रवासी कुलियों और गुलामों के द्वारा बंजर भूमि को स्वर्ग में बदलने का नामोनिशान भी नहीं है। देश के इतिहास में कुलियों-दासों को खरीदने वाले गोरे मालिकों की चर्चा है, शोषित और गरीब मजदूरों के पसीने से तिजोरियाँ भरने वालों की कहानियाँ हैं और उनकी भी चर्चा है जो इतिहास में नाटकों से अपना गुणगान करा सकते थे। अभिमन्यु अनत ने लिखा है कि यही कारण है कि प्रवासी भारतीयों के आगमन, उनके संघर्ष, उनकी यातनाओं, दारुण दंडों की कहीं कोई सही चर्चा नहीं मिलती। वैसे तो सन् 1505 से भारतीयों के मॉरीशस जाने के प्रमाण मिलते हैं, किन्तु मॉरीशस सरकार ने सन् 1834 को मॉरीशस में भारतीय मजदूरों के आगमन का वर्ष मानकर सन् 1984 में उनके आगमन की 150वीं वर्षगांठ की आयोजना की और इसका आरम्भ फरवरी, 1984 को 'गूंगा इतिहास' के मचन से शुरू हुआ। मॉरीशस के प्रधानमंत्री अनिरुद्ध जगन्नाथ और शिक्षा मंत्री ने उस दिन घोषणा की कि प्रवासी भारतीयों की 150वीं वर्षगांठ की शुरुआत 'गूंगा इतिहास' के मंचन से होती है, क्योंकि इतिहास ने जिन यातना-शोषण भरी बातों को छुपाने का प्रयास किया था, उन्हें यह नाटक सामने लाने सफल हुआ है।

अभिमन्यु अनत को इस नाटक को लिखने में इतिहास के ग्रंथों और दस्तावेजों से कोई मदद नहीं मिली, लेकिन उस समय के कुछ लोग जीवित थे, जिनसे बातचीत करके इतिहास की इस मूक यातना की सत्यता की उन्हें वास्तविकता ज्ञात हुई। अभिमन्यु अनत ने लिखा है कि आज भी पीठ पर कोड़े खाने वाले लोग जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े हैं, व्यभिचार से लेकर हर जुल्म को सह चुके आदमी आज भी किसी न किसी बस्ती में अपने मन और जेहन में इतिहास की इस कड़वाहट को लिए हुए हैं।

मेरे अपने ही गांव में सौ दस साल के ऊपर की एक वृद्धा है, जो इतिहास की दर्दनाक घड़ियों की बातें सुनाते-सुनाते कराह उठती है। इतिहास की किताबों में खूनी पसीनों की आवाजें खेतों की चट्टानों के नीचे दब गईं और भारतीय मजदूरों की व्यथा-कथा के बारे में लिखा है कि इस देश का गूंगा इतिहास जानता है कि भारत से मजदूरों को किस तरह के प्रलोभन और छलावे के साथ यहाँ लाया गया था। कलकत्ता से बंबई और बंबई से पोर्टलुई के रास्ते, जहाज में भेड़-बकरियों से भी बदतर स्थिति में, उन्हें यात्रा करनी पड़ती थी, रहने के लिए उन्हें घर की जगह बाड़े दिये गये थे। खेतों में उन्हें बैल से भी अधिक काम करवाया जाता था और कमर सीधे करते ही उन पर बांसों और कोड़ों की बौछार शुरू हो जाती थी। उनकी बस्ती में न तो दवा-दारू की व्यवस्था थी और न पठन-पाठन की, 'रामायण' का पाठ करने तक की इजाजत नहीं थी। मालिकों के जुल्मों के साथ-साथ सरदासों के भी अत्याचार चलते थे। तीन चबन्नियों के रुपये से मजदूरों को चुप रह जाना पड़ता था। एक दिन की गैर हाजिरी पर दो दिन की तनख्वाह काट ली जाती थी। कीड़े भरे चावल और आटे से उन्हें गुजारा करना पड़ता था। एक ही धोती और फतुही वर्ष-भर पहननी पड़ती थी। पत्नी और बहू-बेटियों पर बलात्कार को देखकर भी चुप्पी साधे रहना पड़ता था। कोई गले में रस्सी बांधकर पेड़ों की डालियों से झूल जाता था, तो कोई समुंदर और नदियों में डूब मरता था। मजदूरों की सज़ाओं में एक सज़ा यह भी होती थी कि बगावत करने वाल मजदूर को नंगा करके किसी पेड़ से लटका दिया जाता था और उसके बदन पर ईख का रस लेप दिया जाता था और जब तक लाल चींटी उस रस के स्वाद के साथ उस बंधे हुए व्यक्ति के शरीर से सारे मांस को चाट नहीं जाती थीं, तब तक उसकी लाश पर उसके परिवार का कोई अधिकार नहीं होता था। ईख की कोठियों में किसी लड़की का सुन्दर होना तो उसके लिए सबसे बड़ा अभिशाप था।

'गूंगा इतिहास' नाटक भारतीय प्रवासी मजदूरों की इसी बेबसी, दमन, शोषण तथा नाटकीय जीवन की एक झलक प्रस्तुत करता है। नाटक की विशेषता यह है कि इस गूंगी यातना में एक मुखर विद्रोह पनपता है, शोषण-तंत्र से प्रश्न करता है, उसकी अमानुषीय व्यवस्था के प्रति विद्रोह करता है, और मजदूरों में एक नई जाग्रति उत्पन्न होती है और वे लड़ाई को जारी रखते हैं। इसका पहला मंचन मॉरीशस में फरवरी, 1984 के 'फूलीहार' में हुआ और कोई पन्द्रह हजार लोगों ने इसे देखा। अभिमन्यु अनत ने लिखा है कि 'फूलीहार' (वह स्थान जहाँ गोरे मालिक भारतीय मजदूरों को गिरमिटिया के रूप में खरीदते थे) में कोई पन्द्रह हजार लोगों ने अपनी आँखों से अपने जीवन-मूल्यों, अधिकारों, भाषा संस्कृति, धर्म, रीति-रिवाजों तथा शील-मर्यादा पर हुए आक्रमणों को देखा। 'गूंगा इतिहास' का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि इसमें हिन्दी, भोजपुरी तथा फ्रेंच भाषा का संगम है जो हिन्दी के लिए एक नया रूप है। इससे नाटक और भी जीवंत हो गया है।

उत्कृष्टता पत्थर की लकीर नहीं

गगन गिल का परिचय केवल एक स्थापित कवियित्री भर नहीं है। रायल्टी विवाद में साहस के साथ एक बड़े संस्थान से लोहा लेने वाली गगन प्रकाशक और लेखकों के रिश्ते के स्याह पक्ष को सामने लाने के कारण भी जानी जाती हैं। वे ख्यात लेखक निर्मल वर्मा की हमसफर रहीं। 'टाइम्स ऑफ इंडिया', 'संडे ऑब्जर्वर' और 'वामा' में बतौर संपादक कार्य किया। बहुआयामी कृतित्व की धनी गगन एक साहित्य प्रसंग में जब भोपाल आईं तो उन्होंने 'रंग संवाद' के लिये विभिन्न मुद्दों पर विस्तार से बात की और तमाम सवालों के साफगोई से जवाब दिए। गगन ने साफ कहा कि भारत भवन जैसी संस्था पर अगर कोई भी विचारधारा कब्जा करने लगे तो हमें खुल कर उसका विरोध करना चाहिए। उन्होंने कहा कि सम्मान सदा उत्कृष्टता का होना चाहिए विचारधारा का नहीं। हमें उत्कृष्टता को मंच देना होगा। उत्कृष्टता कोई पत्थर की लकीर नहीं है, वह लचीली होती है। और लचीलापन हमारी मनीषा में भी होना चाहिए।

लेखिका गगन गिल से
पंकज शुक्ला का अंतरंग संवाद

भोपाल की ख्याति गैसकांड के बाद भारत भवन के कारण भी है। आप कलाओं के इस घर की इस लंबी यात्रा की परोक्ष-अपरोक्ष रूप से साक्षी रही हैं। आपको आज भारत भवन की गतिविधियाँ कैसी लगती हैं?

-लोकतंत्र में 'चेक और मेट' जरूरी है। कोई भी अराजक हो सकता है शासक भी और प्रशासक भी। लोकतंत्र का स्वरूप ही ऐसा है कि कार्यों की निगरानी आवश्यक है ताकि कोई भी व्यक्ति अपने ही निर्णय को अंतिम न मान लें। मुझे याद है कि अशोक वाजपेयी के समय भी विवाद उठते थे। उन पर मनमानी के आरोप लगते थे कि एक समूह को बुलाया दूसरे को नहीं बुलाया। इधर के वर्षों में यहाँ क्या हो रहा है इसकी मुझे जानकारी नहीं है लेकिन मेरा मानना है कि भारत भवन जैसी संस्थाएं हमारे समाज में सांस्कृतिक द्वीप की तरह हैं। हमें कृतज्ञ होना चाहिए कि सार्वजनिक ढंग से बनी हुई ऐसी संस्थाएँ हैं जहाँ ऐसे कुछ स्वप्न संभव हुए हैं। अगर इन संस्थाओं को छोड़ दें तो हमारे पास ऐसी जगह है ही नहीं जहाँ हमारी चेतना विकसित हो सके। एक लेखक के बतौर कह रही हूँ कि भारत भवन को मध्यम मार्ग में ही चलाया जाना चाहिए। ऐसी किसी संस्थान की स्वायत्ता पर राजनीतिक या विचारधारा के कब्जे की कोशिशें हों तो विरोध होना चाहिए। हमारे समाज में ही बहुभाषा, बहु संस्कृति है, वह इन संस्थानों में भी होना चाहिए।

ऐसे संस्थानों के संचालन में विचारधारा का संघर्ष बड़ा संघर्ष बन कर सामने आता है।

- संस्कृति के जीवन में सबसे ज्यादा आग्रह उत्कृष्टता का होना चाहिए विचारधारा का नहीं। हमारे यहाँ होता यह है कि जो विचारधारा आ जाती है उसके निकम्मे लोगों को भी उत्कृष्टता को दरकिनार कर खपाया जाता है जबकि सम्मान उत्कृष्टता का होना चाहिए। उत्कृष्टता चाहे किसी भी विचारधारा की हो, जरूरी नहीं कि मैं उससे सहमत हूँ लेकिन अगर वह उत्कृष्ट तो उसमें जरूर ऐसी बहुत सी चीजें होंगी जो मुझे सीखने को प्रेरित करेंगी।

दिल्ली को भी तो साहित्य की मंडी कहा जाता है; वहाँ भी तो यही लड़ाई है?

- मेरा मत हर जगह के लिए यही है। हम उन जगहों पर अधिकार से बात कर सकते हैं जो शासन पोषित हैं। यंक्तिगत संस्थानों पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। हम उत्कृष्टता को मंच देंगे तभी तो उन लोगों को संदर्भ बिन्दु मिलेगा जो उत्कृष्टता की तैयारी में हैं। उत्कृष्टता कोई पत्थर की लकीर नहीं है यह तो लचीली होती है। जो लचीलापन उत्कृष्टता में है वह लचीलापन हमारी मनीषा में भी तो होना चाहिए।

क्या आपको नई पीढ़ी में उत्कृष्टता के लिए यह जिजीविषा नज़र आती है?

- मेरा सवाल यह है कि किसी नए लेखक को हम नोटिस कब करते हैं? तब जब वह उत्कृष्ट दिखाई दे। जब तक उसमें चमक न दिखाई दे तब तक वह अदृश्य ही रहता है। हम एक दिन में तो यहाँ नहीं पहुंचे। हमने भी वर्षों लगाएहैं, कागज फाड़-फाड़ कर फेंके हैं। हर लेखक जितना छपता है उससे कहीं अधिक लिखता है। नए लेखक रेखांकित ही तभी होते हैं जब कुछ अलग बात दिखाई दे। जो लोग पहले से ऐसे हैं उनकी जिम्मेदारी है कि वे ऐसा माहौल बनाएँ।

क्या आप ऐसा माहौल पाती हैं, जो उत्कृष्टता का पल्लवन करें?

- आदर्श माहौल तो कभी नहीं होता। यह तो प्लेटो के जमाने में भी नहीं था। हर समय अपने को दूषित करता है और परिशुद्धि भी करता है। हर समय की यह चुनौती है कि वह अपने इस दूषण को भी पहचाने और अपने उस गुण को भी पहचाने जो दूषण से परिशुद्धि की राह बताता है।

साहित्य को वर्ग में तो नहीं बांटना चाहिए। जब मैं किताब को पढ़ती हूँ तो किताब पढ़ती हूँ मैं दलित को पढ़ने नहीं जाती; न किसी महिला को पढ़ने जाती हूँ। मैं तो अपनी जिज्ञासा को पढ़ने जाती हूँ। समाज में समस्या है दलित का प्रश्न प्रमुख है, स्त्री मुक्ति का प्रश्न प्रमुख है। यह समाज का प्रश्न है इसे उठाकर जब हम साहित्य में ले आते हैं तो साहित्य को परखने का जो बुनियादी मापदंड है उसके साथ खिलवाड़ करते हैं।

आपने जब लिखना शुरू किया था तब से आज में कितना परिवर्तन आया है? अभी का समय ज्यादा चुनौतीपूर्ण है या बेहतर है?

- ज्यादा कम कुछ भी नहीं। बस ये है कि समय के साथ संदर्भ बिन्दू बदल जाता है। उसकी चुनौती अलग हो जाती है। अब जैसे राजनीति की बात करें तो कोई कहता है कि अंग्रेजी का समय अच्छा तो ऐसी बात भी नहीं है; हर समय का अपना चैलेंज होता है।

आंकड़े बताते हैं कि किताबें ज्यादा छप रही हैं दूसरी तरफ कहा जाता है कि पढ़ने वाले नहीं हैं। यह विरोधाभास कैसा? क्या वाकई में ऐसी स्थिति है?

- आप भी जानते हैं कि वास्तव में ऐसी स्थिति नहीं है। एक चीज जिस पर विश्व भर में अब तक काम नहीं हो पाया है वह यह पता लगाना है कि छपी हुई किताब और बिकने वाली किताब में कितना अंतर है। यह जानने की कोई तकनीक आ जाए कि किताबें कितनी छपी और कितनी बिकीं तब तो इस बात को देखा जा सकता है। तब ही इन तथाकथित वक्तव्यों का कि किताबें बढ़ गई हैं, कि पढ़ने वाले घटे हैं निपटारा हो सकता है। मैंने भोपाल का नावेल्टी बुक हाउस देखा है। दिल्ली में तो ऐसी कोई दुकान नहीं दिखाई दी। बहुत दिनों बाद ऐसा सुखद अनुभव मिला जहाँ किताब को देख कर छू कर तय कर सकती हूँ कि क्या लेना है। इतनी बड़ी दुकान देख कर ही लगता है कि वह दुकान घाटे में तो नहीं चल रही है। इस दुकान को लाभ में लाने के लिए कुछ तो पाठक आते ही होंगे।

लेखक और प्रकाशक का रिश्ता किस रूप में देखती हैं?

- मेरा अनुभव इतना तो कहता है कि यह मामला इतना स्याह-सफेद नहीं है। सवाल तो यही कि परिस्थिति इतनी उलझी है कि इस स्थिति को नयिंत्रित करने के उपाय समझ नहीं आते। अगर लेखक प्रकाशक की बात की जाए तो लेखक ही मैले कपड़ों में दिखेगा प्रकाशक नहीं दिखेगा। प्रकाशक तो सबके सब सफेद कपड़ों में हैं। लेखक का कपड़ा उजला है और है तो कितना है ये सिद्ध करने का कोई तो तरीका होना च्चहिए।

साहित्य को खेमों में बांटा गया है। महिला साहित्य भी एक भाग है। आपकी क्या राय है कि क्या इस वर्गीकरण ने साहित्य को नुकसान पहुंचाया या महिला साहित्यकार को आगे लाने में सहायता की?

- साहित्य को वर्ग में तो नहीं बांटना चाहिए। जब मैं किताब को पढ़ती हूँ तो किताब पढ़ती हूँ; मैं मुज्जे को पढ़ने नहीं जाती। मैं दलित को पढ़ने नहीं जाती; न किसी महिला को पढ़ने जाती हूँ। मैं तो अपनी जिज्ञासा को पढ़ने जाती हूँ। समाज में समस्या है दलित का प्रश्न प्रमुख है, स्त्री मुक्ति का प्रश्न प्रमुख है। यह समाज का प्रश्न है इसे उठाकर जब हम साहित्य में ले आते हैं तो साहित्य को परखने का जो बुनियादी मापदंड है उसके साथ खिलवाड़ करते हैं। मैं एक स्त्री हूँ तो स्त्री की तरह ही लिखूंगी। पुरुष अपने अनुभव से लिखेगा। आपकी कल्पना होगी उससे कभी छूटेंगे, कभी बंधेगे लेकिन यह दुधारी तलवार है। मेरी कल्पना मेरे स्त्री होने से सूचित

भी होगी और सीमित भी होगी। मुझे दोनों ही चीजें रखना होगी। मुझे स्त्री बन कर लिखना भी है और लिखते हुए स्त्री से मुक्त भी होना है। यही मैं दलित लेखन साहित्य के लिए भी कह सकती हूँ। अपने कई बड़े से बड़े भक्त कवियों को देख लीजिए। उनमें से कई दलित समाज से आए हैं लेकिन क्या हम उन्हें दलित समाज के कारण याद करते हैं? नहीं हमें उन्हें आवश्यक रूप से उनके काव्य तत्व के कारण याद करते हैं। आज हम कबीर जैसे व्यक्ति को क्या एक जुलाहे के रूप में सीमित कर सकते हैं? नहीं कर सकते हैं। अगर हम इतनी 'ट्वीस्टेड इमेजिनेशन' से यह सब करेंगे तो हम कबीर के प्रति अन्याय नहीं कर रहे बल्कि एक बड़ी गैर जिम्मेदाराना चीज कर रहे हैं।

निर्मलजी तो खुद बच्चे ही थे। मुझे लगता है कि इतना बाल सुलभ रहने के लिए बहुत बड़ी तपस्या करनी पड़ती है। आप बच्चे बने रहें इसके लिए आपको हर दिन मेहनत करनी पड़ेगी। हर दिन जो चोट आपने खाई उसको मिटाना पड़ेगा, भूलना पड़ेगा। यह तभी आएगा जब मैं बहुत निर्ममता से अपने ईगो की सफाई करती हूँ; क्योंकि मेरी लिखाई-पढ़ाई ईगो को बनाने का काम करती है और यह संसार ईगो पर चोट करता है। मुझे ईगो की भी सफाई करना है और चोट की भी। यह काम निर्मलजी आसानी से कर लेते थे।

एक दौर था जब कविताएं याद हो जाती थीं। कविता नारा होती थीं। लेकिन आज ऐसा नहीं दिखाई देता।

- महान कविताएं रोज नहीं लिखी जायेंगी। पूरा इतिहास उठा कर देख लीजिए अगर मध्ययुगीन कविता का इतिहास पढ़ना है तो एक दो ही पढ़ाए जाएंगे। ऐसा तो नहीं है कि कबीर के दौर में और कोई लिखता न होगा या बोलता न होगा; या गाता न होगा। कौन सी कविता नारा बनेगी? कविता की मुक्ति नारा बनने में नहीं है। पहली बात तो यह है कविता एक अलग चीज है लेकिन महानता को भी साधारणता का पड़ोस चाहिए होता है। महानता अपने अकेलेपन में संभव नहीं है। वो बहुत सारी साधारण चीजों के साथ रह कर पकेगी। फिर एकदम से ऊंची हो जाएगी। हम लोगों को इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि हमारे फंडामेंटल क्लीयर हैं या नहीं।वो कविता ही क्या जो आपसे भिखारी होने की मांग न करें। कला और संगीत के देवता के पास तो आपको अपनी पोटलियां छोड़ कर ही जाना पड़ेगा। जब हम उस तरह की तैयारी ही नहीं कर रहे हैं, इस तैयारी की मोहल्लत हमारा समाज भी नहीं दे रहा तो ये द्वंद्व तो है। जितना मैंने समझा हर लेखक अपने में करता है एक समय में पोटलियां बांधता है और एक समय में पोटलियां फैंकता है। जो ये कर लेते हैं ये अपनी नियती दूसरी तरफ कर लेते हैं जो नहीं कर पात उनके बारे में हम जानते हैं।

इतनी लंबी साहित्यिक यात्रा में आपकी रचना प्रक्रिया में क्या अंतर आया है?

- पहले चीजें मुझे बांधती थीं। मेरे पहले संग्रह को स्त्री चेतना के वर्ग में रखा तो इसका कारण है कि किताब स्त्री चेतना की बात कर रही थी। वे चीजें स्त्री रूप में लेखिका को परेशान करती थी, बांधती थी, छूटने को बैचेन करती थी। इन 25-30 सालों में मेरा जीवन भी तो मेरे साथ चला है। मेरे जीवन ने भी तो मेरी परीक्षाएं ली हैं। परीक्षा देकर नकिल आई हूं तो डरने की जगह कम है। अंतर पाती हूँ कि मैं अब धीरे-धीरे मुक्त हो रही हूँ। मुझ पर बाहरी दबाव कम आता है। मेरी जिज्ञासा तो हमेशा से आंतरिकता से जुड़ी हुई रही अभी भी मेरा विषय व्यक्ति की मुक्ति की आकांक्षा में ही रहा है। लेकिन अब इसमें समाज का दबाव नहीं है जो कुछ भी मेरे लेखन में तनाव है वो मेरे होने का तनाव है।

क्या इसे व्यक्तिगत विकास कहना चाहिए।

- जिज्ञासा ही कहूंगी। हमें पृथ्वी पर अपने होने का लक्ष्य कभी न कभी खोजना चाहिए।

साहित्य का लक्ष्य भी यही होना चाहिए?

- साहित्य ही नहीं हर जीवन का यह लक्ष्य होना चाहिए। बहुत से लोग होंगे जिनका जीवन साहित्य के बिना भी अर्थपूर्ण होता है। यह कहना कि साहित्य ही हमें अर्थ देता है ठीक नहीं है। मनुष्य ने अपने दिमाग के साथ ऐसी भी विधाएं बनाई हैं जहाँ शब्द का इस्तेमाल ही नहीं करता। आप किसी अच्छे संगीत को सुन कर देख लीजिए, वह दस मिनट में मुक्त कर देता है। ऐसा तो नहीं है कि अपने होने का अर्थ शब्द में ही छिपा है। मेरे मौन में भी तो मेरे होने का अर्थ छिपा हो सकता है। आखिर चिड़िया भी तो अपने बच्चे को कोई अर्थ देती होती है।

मेरा सवाल एक है लेकिन मैं दो उत्तर चाहता हूँ। आप पर किसका प्रभाव रहा? आपके व्यक्तित्व और आपके लेखन पर।

- (लंबी खामोशी के बाद) - मेरे पिता का। वे बड़े विद्वान थे। बहुत चुप रहते थे;

कभी-कभी हमें कहानी सुनाते थे; ज्यादातर महाभारत में से सुनाते थे। मैं समझती हूँ कि बाद के जीवन में जिन भी लोगों के संपर्क में आई और इस मामले में बहुत भाग्यशाली हूँ कि महान लोगों के साधारण संपर्क में रही। इनमें से मैं नाम ले सकती हूँ गोविंदचंद्र पांडे, दयाकृष्णजी, अमृता प्रीतम। निर्मलजी तो थे लेकिन जिसने सबसे गहरा प्रभाव डाला जिसे पिता जैसा ही कह सकते हैं रवींद्रनाथ टैगोर। अगर किसी उम्र के बाद कोई लड़की यह कह सकती है कि मेरे दो पिता हैं तो मैं टैगोर को दूसरा पिता कहूंगी। मानस पुत्री की मानस पिता। मैंने अंग्रेजी साहित्य पढ़ा लेकिन जब मैंने टैगोर को पढ़ा तो लगा कि इतने परिपूर्ण व्यक्ति में से भी क्या साहित्य निकल सकता है? हम अपना अधूरापन लिखकर पूरा करते हैं। एक तरफ हमें टॉलस्टाय पसंद हैं। उनके यहाँ बहुत डार्क कैरेक्टर हैं। नकारात्मकता का चरम। उस अंधेरे में से महान साहित्य कैसे निकलता है यह टॉलस्टाय में देखा। टैगोर में कोई डार्कनेस नहीं है। अगर नकारात्मक नहीं हैं तो वे कैसे बुनते हैं? साहित्य को तो दो शेड चाहिए। उनके यहाँ मनुष्य मन का छोटापन कंट्रास्ट बनता है।

और निर्मलजी...

- (बीच में ही रोकते हुए....) निर्मलजी पर मुझसे बात मत करवाइये। मुझे लगता है कि कुछ चीजें व्यक्तिगत रूप में रहनी चाहिए।

लेकिन एक पाठक के बतौर आपने निर्मलजी को कैसे पाया?

- निर्मलजी तो खुद ही बच्चे ही थे। मुझे लगता है कि इतना बाल सुलभ रहने के लिए बहुत तपस्या करनी पड़ती है। क्योंकि जीवन हमें 2-3 साल की उम्र से बड़ा बनाने लगता है। वयस्क होने के लिए कुछ करना नहीं पड़ता। वयस्क तो आपका जीवन 3 साल के बाद कभी भी बना देगा लेकिन आप बच्चे बने रहें इसके लिए आपको हर दिन मेहनत करनी पड़ेगी। हर दिन जो चोट आपने खाई उसको मिटाना पड़ेगा, भूलना पड़ेगा। क्योंकि चोट दिमाग को लगती है। वो जो एक निश्छल मस्तिष्क है उसे सृजित नहीं कर सकते। वो एक काउंटर पार्ट की तरह ही आएगा। यह तभी आएगा जब मैं बहुत निर्ममता से अपने ईगो की सफाई करती हूँ; क्योंकि मेरि लिखाई-पढ़ाई ईगो को बनाने का काम करती है और यह संसार ईगो पर चोट करता है। मुझे ईगो की भी सफाई करना है और चोट की भी सफाई करना है। यह काम निर्मलजी आसानी से कर लेते थे।

एक अंतिम सवाल। इन दिनों भारतीय लेखक अंग्रेजी में काफी लिख रहे हैं?

- मेरे लिए अंग्रेजी भाषा में लिखा साहित्य भी अलग नहीं है। हम इतनी चिड़ी भाषा समय में रह रहे हैं कि यदि कोई अंग्रेजी में लिखना चाहता है तो लिख ले। अंततः उसके लिखे को जब मापा जाएगा तो इससे नहीं कि किस भाषा में लिखा है बल्कि इसका मानदंड होगा कि क्या लिख गया है।

रंगमंच तथा सृजनात्मक विधाओं के अंतर्संवाद और विमर्श का खुला पटल

राष्ट्रीय हिन्दी अकादेमी रुपांबरा, कोलकाता, दुष्यंत कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय तथा करवट कला परिषद् भोपाल

द्वारा पुरस्कृत पत्रिका

●●●

संपर्क

रंग संवाद

वनमाली सृजन पीठ

22, E-7, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016

मोबाइल : 9826256733 (संतोष चौबे), 9826392428 (विनय उपाध्याय)

ई-मेल : vinay.srujan@gmail.com

ज्ञानपीठ सम्मान से विभूषित कवि केदारनाथ सिंह

मानवीय आशावाद का कवि

केदारनाथ सिंह को 'ज्ञानपीठ सम्मान' व्यक्ति के साथ उस काव्य-समष्टि का भी सम्मान है जो साहित्य-सर्जना का वृहत्तर अवकाश प्रदान करती है। 'तारसप्तक' की सप्तक परम्परा चार सप्तकों के अंतरालों के साथ चली। अज्ञेय, नरेश मेहता, कुँवरनारायण, जैसे अग्रज कवियों के बाद केदार जी को इस सम्मान से नवाजा जाना, एक असली कवि और असली कविता की काव्य-जिजीविषा को सम्मानित करना है। हम जिस युवा पीढ़ी की समकालीन कविता को पढ़-सुन रहे हैं, उसके प्रति केदार जी उम्मीद भरी नजरों से देख तो अवश्य रहे हैं लेकिन पूरी तरह संतुष्ट कम ही प्रतीत होते हैं। प्रतिभा की कमी नहीं, ऊर्जा भी कम नहीं, कल्पनाशील भी नये कवि के पास है, यथार्थ बोध भी लेकिन वह अनेक सामाजिक स्थूलताओं से घिरकर कविता के शिल्प और संवेदन को अपने अनुभव के यथार्थ के साथ सही ढंग से जोड़ नहीं पाता है। इसलिए केदार जी का सम्मान यह प्रेरणा देता है कि अनुभव के साथ अध्ययन की गहनता हो, चेतनात्मक लय हो, शिल्प की पकड़ हो, यथार्थ को सार्वभौम बनाने का हुनर हो और भाषा की पकड़ हो तो कविता या कोई भी रचना सार्थक हो सकती है।

केदारजी के कवि-व्यक्तित्व को साधुवाद प्रेषित करते हुए 'रंग संवाद' के पटल पर उनकी कुछ कविताएँ।

केदारनाथ सिंह की कुछ कविताएँ

भिखारी ठाकुर

विषय कुछ और था
शहर कोई और
पर मुड़ गई बात भिखारी ठाकुर की ओर
और वहाँ सब हैरान थे यह जानकर
कि पीते नहीं थे वे
क्योंकि सिर्फ वे नाचते थे
और खेलते थे मंच पर वे सारे खेल
जिन्हें हवा खेलती है पानी से
या जीवन खेलता है
मृत्यु के साथ

इस तरह सरजू के कछार-सा
एक सपाट चेहरा
नाचते हुए बन जाता था
कभी घोर पियक्कड़
कभी वर की खामोशी
कभी घोड़े की हिनहिनाहट
कभी पृथ्वी का सबसे सुंदर मूर्ख

और ये सारे चेहरे थे
क्योंकि सारे चेहरे हँसते थे एक गहरी यातना में
अपने मुखौटे के खिलाफ
और महात्मा गांधी आकर
लौट गए थे चम्पारन से
और चौरीचौरा की आँच पर
खेतों में पकने लगी थीं
जौं-गेहूँ की बालियाँ

पर क्या आप विश्वास करेंगे
एक रात जब किसी खलिहान में चल रहा था
भिखारी ठाकुर का नाच
तो दर्शकों की पाँत में
एक शख्स ऐसा भी बैठा था
जिसकी शक्ल बेहद मिलती थी
महात्मा गाँधी से

इस तरह एक साँझ से
दूसरी भोर तक
कभी किसी बाजार के मोड़ पर
कभी किसी उत्सव के बीच की
खाली जगह में
अनवरत चलता रहा
वह अजब बेचैन-सा चीख-भरा नाच
जिसका आजादी की लड़ाई में
कोई जिक्र नहीं

पर मेरा ख्याल है
चर्चिल को सब पता था
शायद यह भी कि रात के तीसरे पहर
जब किसी झुरमुट में
ठनकता था गेहुँअन
तो नाच के किसी अँधेरे कोने से
धीरे-धीरे उठती थी
एक लंबी और अकेली
भिखारी ठाकुर की आवाज
और ताल के जल की तरह
हिलने लगती थीं
बोली की सारी
सोई हुई क्रियाएँ

और अब यह बहस तो चलती ही रहेगी
कि नाच का आजादी से
रिश्ता क्या है
और अपने राष्ट्रगान की लय में
वह ऐसा क्या है
जहाँ रात-बिरात जाकर टकराती है
बिदेसिया की लय।

*प्रसिद्ध भोजपुरी लोककवि भिखारी ठाकुर (रचनाकाल पिछली सदी के तीसरे तथा छठे दशक के बीच), निर्देशक, लोक अभिनेता तथा बिदेसिया' नामक लोकप्रिय 'नाच' (गीतनाटिका) के रचयिता।

आत्मचित्र

एक लकीर
पृथ्वी के सारे अक्षांशों से होती हुई
जहाँ
सौर-मण्डल के पास
खो जाती हैं

वहाँ
मैं खड़ा हूँ।
मछुए का
एक जाल नदी से निकालकर
धरा हुआ
मेरे इन चिर आदिम कन्धों पर-
यह मेरा नगर है।
हँसी की एक झालर
टँगी हुई तारों पर
हवा के धक्के से
जिधर झुक जाती है
उधर
मेरा घर है
छोटा-सा घर है
और छोटे-से घर में
असंख्य दिशाएँ हैं
हर दिशा
तेज़ी से
दूसरी दिशाओं को
जहाँ पर छूती है
वहाँ-
मैं जीवित हूँ।

ब्रजेश बड़ोले

मैं लौटता हूँ तुममें

जैसे चीटियाँ
लौटती हैं बिलों में
कठफोड़वा लौटता है
काठ के पास

वायुयान लौटते हैं
एक के बाद एक
लाल आसमान में
डैने पसारे हुये
हवाई अड्डे की ओर

जब चुप रहते रहते
अकड़ जाती है
मेरी जीभ
दुखने लगती है
मेरी आत्मा

ओ मेरी भाषा
मैं लौटता हूँ तुममें

शहर की सफाई

(आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंध 'शिरीष के फूल' का स्मरण करते हुए)

शिरीष के फूल
झाड़ू से बुहारे जा रहे हैं
देखता हूँ सुबह-सुबह सारा फुटपाथ
पटा पड़ा है हरित-कपिश फूलों से
वही जो कालिदास को
इतने प्रिय थे
और एक बड़ा-सा झाड़ू
उनकी महीन खुशबू
और रंगों के छोटे-छोटे रेशों समेत
उन्हें जल्दी-जल्दी बुहारे जा रहा है
सड़क की ओर
और सड़क है कि
उसे फूलों की नहीं
कचरे से लदे एक ट्रक की प्रतीक्षा है
जो आ सकता है किसी भी क्षण

क्षमा करें गुरुवर
मैं चाहता जरूर हूँ
बल्कि अनजाने ही मेरा हाथ
बरजने की मुद्रा में उठ गया है
उसी तरफ
पर वहाँ जो हो रहा है
झाड़ू और उन हरित-कपिश फूलों के बीच
उसे रोक नहीं सकता

जो हो रहा है
वह शहर की सफाई के लिए
बेहद जरूरी है।

दुपहरिया

झरने लगे नीम के पत्ते, बढ़ने लगी उदासी मन की,
उड़ने लगी बुझे खेतों से
झुर-झुर सरसों की रंगीनी,
धूसर धूप हुई, मन पर ज्यों-
सुधियों की चादर अनबीनी,
दिन के इस सुनसान पहर में रुक-सी गयी प्रगति जीवन की।

साँस रोक कर खड़े हो गये
लुटे-लुटे-से शीशम उन्मन,
चिलबिल की नंगी बाँहों में
भरने लगा एक खोयापन,
बड़ी हो गयी कटु कानों को 'चुर-मुर' ध्वनि बाँसों के वन की।

थक कर ठहर गयी दुपहरिया,
रुक कर सहम गयी चौबाई,
आँखों के इस वीराने में-
और चमकने लगी रुखाई,
प्रान, आ गये दर्दीले दिन, बीत गयीं रातें ठिठुरन की।

विदा गीत

रुको, आँचल में तुम्हारे
यह समीरन बाँध दूँ, यह टूटता प्रन बाँध दूँ।
एक जो इन उँगलियों में
कहीं उलझा रह गया है
फूल-सा वह काँपता क्षण बाँध दूँ!

फेन-सा इस तीर पर
हम को लहर बिखरा गयी है!
हवाओं में गूँजता है मन्त्र-सा कुछ
साँझ हल्दी की तरह
तन-बदन पर छितरा गयी है!
पर रुको तो-
पीत पल्ले में तुम्हारे
फसल पकती बाँध दूँ!
यह उठा फागुन बाँध दूँ!

'प्यार'- यह आवाज
पेड़ों-घाटियों में खो गयी है!
हाथ पर, मन पर, अधर पर, पुकारों पर
एक गहरी पर्त
झरती पत्तियों की सो गयी है!
पर रहो तो,
रुँधे गीतों में तुम्हारे
लपट हिलती बाँध दूँ!
यह डूबता दिन बाँध दूँ!

धूप तकिये पर पिघल कर
शब्द कोई लिख गयी है,
एक तिनका, एक पत्ती, एक गाना....
साँझ मेरे झरोखे की
तीलियों पर रख गयी है!
पर सुनो तो-
खुले जूड़े में तुम्हारे
बौर पहला बाँध दूँ!
हाँ, यह निमंत्रण बाँध दूँ!

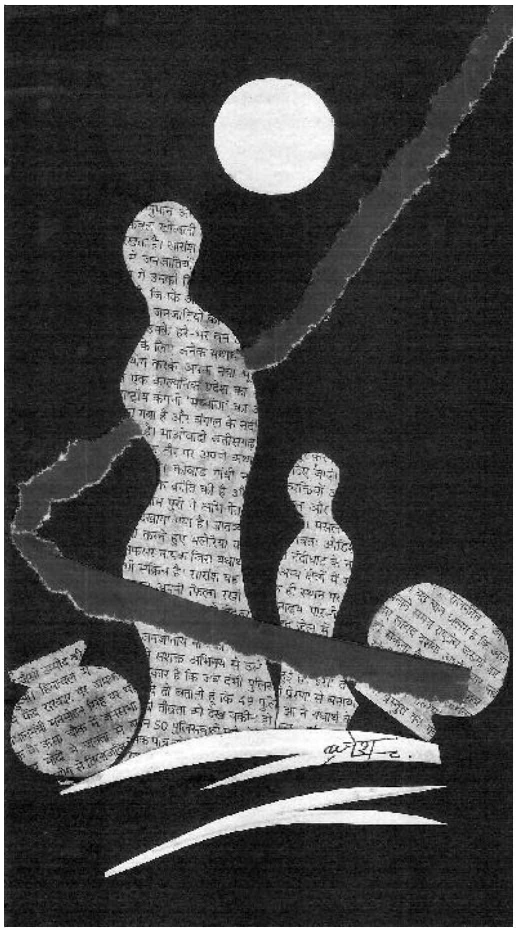

स्मृति : प्रभात गांगुली

गौरवर्ण। बेहद आकर्षक व्यक्तित्व के धनी। सिर्फ भ्रकुटि विलास से नव रसों का संदर्शन कराने की क्षमता रखने वाले भाव प्रवण नर्तक। नाम प्रभात गांगुली। आज वे होते तो सौ वर्ष का आयुष्य प्राप्त कर चुके होते। प्रायः कला-साधकों के परिचय में लिखा जाता है कि उनमें जन्मजात प्रतिभा है, वे बचपन से ही कला-निष्णात रहे हैं आदि। प्रभात गांगुली के बारे में ऐसा कुछ नहीं कहा या लिखा जा सकता है। उनके खानदान में दूर-दूर तक कोई संगीतकार-गायक-वादक या नर्तक नहीं था। नैसर्गिक प्रतिभा की कोई उल्लेखनीय बात भी नहीं थी। पढ़ने-लिखने में कम दिलचस्पी के चलते निहायत औसत विद्यार्थी। फलतः घर की आँख के तारे भी वे कभी नहीं बन पाये। बावजूद इसके अगर देश के शीर्षस्थानी नर्तकों में वे शुमार हुए, उनके नृत्य निर्देशन में तैयार बैले तमाम देशों में धूम मचा सके, विश्वस्तरीय सम्मान पा सके तो यह सब उनके श्रम का अर्जित सुफल था।

रंग, रूप और खुशबू का प्रतिरूप

रामप्रकाश

शमीम फरहत ने एक नज़्म में कहा था- 'मेहनत जब फन में ढलती है, सुन्दरता कहलाती है'। शायर का संदर्भ कोई हो परन्तु प्रभात गांगुली के बारे में कहा जा सकता कि उनकी मेहनत जब फन में ढली तभी सुन्दरता बनी। विश्व विजयी सुन्दरता! वे मेहनत करके नृत्य पर, नृत्य निर्देशन पर अधिकार जमा पाये थे। इसलिए उनकी संरचनाओं में, नृत्य नाटिकाओं में श्रम और श्रम संस्कृति से उपजे मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई है।

उनके जन्म और बचपन के संयोग ताउम्र योग ही बने रहे, उन्होंने ऋणात्मक भूमिका कभी नहीं निभाई। उनका जन्म तत्समय भारत की सांस्कृतिक राजधानी कहे जाने वाले वाराणसी में 15 अगस्त 1913 को हुआ। वाराणसी तब स्वतंत्रता संग्रामियों की ऐतिहासिक कार्यस्थली और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की झंडाबरदार नगरी थी। गंगा की लहरियाँ वहाँ केवल पाप विमोचन के सुरताल पर नहीं थिरक रही थीं, उनमें स्वातंत्र्य चेतना के ज्वार छिपे थे। उनके किनारे पर शास्त्रीय और लोक-कलाओं, कविता, कहानी और आलोचना से कीर्तिमान गढ़े जा रहे थे।

दिलचस्प यह है कि बनारस की कविता आलोचना, गायकी, कथक, सितार, तबला, मृदंग, शहनाई, सारंगी की घरानेदार कलाओं की छाप प्रभात गांगुली पर नहीं पड़ी। वे प्रभावित हुए तो जन-कलाओं से। नृत्य-संगीत के संस्कार पड़े तो श्रम की थकान का परिहार करने वाले अहीरों और धोबियों के नृत्य से। ये लोक कलाएँ शाम गहराते ही उनके आस-पड़ोस से बरसने लगतीं। ब्राह्मण बालक प्रभात उनकी कला से ऐसा मुतास्सिर हुआ कि उसने 'जप, माला, छापा, तिलक' सबको गंगा में विसर्जित कर दिया और कलानुरागी हो गया। इस कलानुराग को दीवानगी तक पहुँचाया विश्वविख्यात 'आधुनिक नर्तक' उदयशंकर ने। सन् 1935 के आसपास जब प्रभात गांगुली कोलकाता गये थे तभी उदयशंकर ने भी वहाँ नये नृत्यों और नृत्य नाटिकाओं की संरचना के लिए करीब एक वर्ष तक मुकाम किया।

प्रभात को शास्त्रीय या आधुनिक नृत्य का 'क ख ग' भी नहीं पता था। बावजूद इसके उनने जुनूनी होकर ठान लिया कि नर्तक बनना है। उदयशंकर को प्रभावित करना आसान नहीं था। प्रभात के पास कोई प्रदर्शनीय कला रूप नहीं था। केवल लोक नृत्य की चाक्षुष छवियाँ भर थीं, लेकिन वे भी केवल स्मृति में पोषीदा थीं। उनकी पुनर्प्रस्तुति उनके लिए संभव नहीं थी। बावजूद इसके अपनी लगन, अपने समर्पण, अपनी भक्ति से उदयशंकर नाम के पत्थर को प्रभात ने पिघला लिया। नतीजा...?

करेला नीम पर चढ़ गया और उदयशंकर से मिलकर 'मैया चंद्र खिलौना लैहौं' की ज़िद पूरी की। उदयशंकर उनके बेहद प्रियदर्शी, शरीर सौष्ठव और मनोहारी व्यक्तित्व से तो प्रभावित हुए- पर नृत्य के नाम पर इल्ले! बहरहाल जिद की जीत हुई और प्रभात गांगुली 1939 में उदयशंकर के अल्मोड़ा स्थित कल्चरल सेण्टर से जुड़ने में सफल हो गये।

प्रभात में लगन की कमी नहीं थी लेकिन सीखने की गति धीमी थी। एक बार एक नृत्य में उनकी जोड़ी फ्रांस से आयी सुन्दर सुकुमारी सिमकी के साथ बिठाई गई। दरस-परस में तो यह जोड़ी भरत नाट्यशास्त्र के सौन्दर्य-मानकों के अनुरूप थी पर नृत्त, नृत्य, नाट्य सभी अंगों में सिमकी की चमक कहीं ज्यादा थी। बंगाली मोशाय के मन में सिनकी के साथ से रूप-रस-गंध की हिलोरें उठ रही थीं और उधर सिमकी का दिल प्रभात की मंथर गति और गैर व्यावसायिक ढब के चलते बैठा जा रहा था। नतीजा यह कि सिमकी ने उदयशंकर से कह कर यह जोड़ी तुड़वा दी कि वे नृत्य के समग्र प्रभाव में दर्शकों को निराश ही करेंगे लिहाजा प्रभात युगल नृत्य से अलग कर दिये गये।

नृत्य-जुनूनी और एक तरफा प्रेम में निरत प्रभात गांगुली पर इस घटना ने गहरा असर डाला। प्रेम को जीतने के लिए उनकी प्रणय चर्चा में भी बदलाव आया। वे नृत्य और प्रेम दोनों को अर्जित करना चाहते थे। इसलिए उनके लिए दिन, दिन न रहा और न रात, रात। वे कठिन श्रम से नटराज को साधने में जुट गये।

प्रभात ने ऐसी कठिन नृत्य साधना की कि लोग उनकी तुलना स्वयं उदयशंकर और उनके योग्यतम शिष्य रामगोपाल से करने लगे। बंगाली मोशाय ने सिमकी का दिल भी जीता और रूप-रस-गंध की नृत्य-झलकियों को बिसमिल्लाह खाँ की शहनाई में रूपांतरित कर दिया। जाति-धर्म-भाषा-भूषा की जकड़बंदियों को तोड़कर प्रभात-सिमकी का विवाह सम्पन्न हुआ। प्रभात दा के निधन से कोई दो साल पहले ही सिमकी ने अमेरिका में आखरी साँस ली। दोनों की बेटी संप्रति लंदन में है। मुख्तसर यह कि प्रभात दा ने मेहनत को फन में ढालकर इतना सुन्दर बना दिया कि उनके प्रशंसक भारत के अलावा उन 28 देशों में फैले हैं जहाँ उनकी नृत्य नाटिकाएँ बार-बार प्रदर्शित हुईं। उन्होंने अपनी पृथक शैली विकसित की जिसमें भाव-प्रवणता का प्राचुर्य था। इससे उनकी पृथक पहचान भी बनी।

अलमोड़ा केन्द्र के बिखर जाने के बाद प्रभात दा दिल्ली में इप्टा से जुड़े (1944-45) और उनके 'हंगर' बैले ने धूम मचाई। सन् 48 में वे इप्टायी विचारधारा के समरूप शांतिवर्द्धन के इण्डियन रिनेसाँ ग्रुप से जुड़े। यहाँ उन्होंने जवाहरलाल नेहरू की ऐतिहासिक दस्तावेजी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' पर आधारित नृत्य नाटिका प्रस्तुत की, जिसे विश्वव्यापी सराहना मिली। लिटिल बैले ट्रुप की स्थापना के बाद 1959 से प्रभात गांगुली बहैसियत कोरियोग्राफर (नृत्य नाटिका निर्देशक) शामिल हुए। शांति दा के बाद 1965 से वे प्रिंसिपल कोरियोग्राफर की तरह रंगश्री लिटिल बैले ट्रुप के साथ मृत्युपर्यन्त जुड़े रहे।

मैं ठहरा ग्वालियर का ठेठ भाषा के ठाठ वाला उदण्ड मार्तण्ड और प्रभात दा शीर्षस्थानी कोरियोग्राफर, नाट्यनिर्देशक और नर्तक। मेरे लिए कोई अच्छा वाक्य किसी के जेहन में नहीं और प्रभात के लिए- ''वो आदमी है रंग का खुश्बू का रूप का / कैसे मुकाबला करे दिन भर की धूप का।'' जैसी सुहावनी काव्य पंक्तियाँ। मैं और वो? यानी कहाँ मैं और कहाँ वो? हमारे मिलन की घटनाएँ मगर इत्तिफाकन दिलचस्प हैं। वह जमाना छात्रान्दोलनों के उभार का था कि हर उस क्षेत्र में हाथ आजमाया जाय जो आपको चर्चा के केन्द्र में ले आये और आपकी छोटी-मोटी सही फेन-फॉलोइंग हो जाय। मार्क्सवाद का नया-नया विद्यार्थी और फॉलोअर था, इसलिए शायद प्याज ज्यादा ही खा रहा था। इसमें विवेक कम और धुन ज्यादा थी। इसके चलते हूटिंग ब्रिगेड मैंने एम.एल.बी. कॉलेज ग्वालियर में बना ली थी।

एक बार मैं अपने कॉलेज की बस भर हूटिंग-ब्रिगेड लेकर ग्वालियर के साइंस कॉलेज के खेल मैदान पर पहुँचा। हम लोग हूटिंग की इतनी तरकीबें खोजने में जुटे रहते थे कि आज का ग्रेट लाफ्टर शो उसके सामने पानी भरता। बेशक यह सामूहिक कला होती। हमारे देश में जहाँ चौर्य-कला तक का शुमार कला-सूची में है तो मुझे हूटिंग को कला कहने में संकोच क्यों होता? बहरहाल हमने अपनी कला-प्रतिभा का उन्मुक्त प्रदर्शन किया। वो मैच हम नहीं भी जीतते तो भी हूटिंग का मैदान तो हमने मार ही लिया था। मैदान के एक कोने पर विज्ञान महाविद्यालय का तब का नया होस्टल बना था। वहाँ से एल.बी.टी. की पूरी टीम चाव के साथ न सिर्फ एम एल बी और साइंस कॉलेज का क्रिकेट मैच देख रही थी, बल्कि हमारी हरकतों पर भी नजर रख रही थी। मैच समाप्ति के बाद हमें वहाँ बुलाया गया। बाकी ब्रिगेड के लड़के-लड़कियों को कालेज बस से भिजवा कर हम एल.बी.टी. पहुँचे। खयाल था कि जाते ही पूछेंगे हमें बुलाने की जुर्रत नचैयों-गवैयों ने कैसे की। पर एक बेहद सुन्दर, गौरवर्ण, ऊँचे-पूरे मनभावन इंसान ने त्रिभुवन मोहिनी और विस्तारित मुस्कान के साथ हमारा इस आत्मीयता से स्वागत किया कि हमारी हेकड़ी मुट्ठी की रेत की तरह खिसक गयी। साथ में एक बेहद साँवली और तीखे नैन-नक्श वाली महिला थीं जो पूर्वांचली परिधान में सज्जित थीं। उन्होंने हमारे नाश्ते-चाय की व्यवस्था की। ये लोग प्रभात गांगुली और गुलबर्द्धन थे।

उस दिन हमारी कर्री क्लास भी हो गयी। हम झालर पर बारह घंटे बजा कर शानदार बॉलर एक सिख खिलाड़ी को हूट कर रहे थे। प्रभात दा ने पूछा- हर बार बारह बजाने का क्या मतलब है? एक कौम को आप इस तरह कैसे छेड़ सकते हैं? उनके स्वाभिमान को आहत करने का हक आपको कैसे जाता है? काफी प्रताड़ना और काफी मजम्मत, मगर प्यार के साथ। जोर-जोर के झटके मगर आहिस्ता-आहिस्ता! बहरहाल इस मुलाकात ने हमें रंगश्री लिटिल बैले ट्रुप के परिवार का हिस्सा बना दिया। नरगिस दास, विजयलक्ष्मी वासवानी से प्रकाश दीक्षित और श्याम अग्रवाल तक तमाम मित्र पहले से ही वहाँ जुड़े थे। धीरे-धीरे समान धर्मी और विचारधारा मूलक लोगों का गुट वहाँ जमा हो गया। साहित्य में आलोकन-ग्रुप और कलाओं में रंगश्री, विचारधारा के दो सुरुचि सम्पन्न पालने हमें पल्लवन के लिए मिल गये।

प्रभात दा किसी पार्टी के सदस्य नहीं थे, इप्टा के एक्टविस्ट होने के बावजूद किसी विचारधारा के पैरोकार होने का उन्होंने दंभ नहीं पाला था। उनकी दोस्ती का दायरा भी चिारधारा मुक्त ही रहा है। वे सर से पाँव तक कलाकार और कला-साधक थे। चूँकि उनके सरोकार जनकलाओं से जुड़े थे इसलिए जाहिरा तौर पर उनके विषयों और वस्तु में जनवाद की प्रचुरता थी। वे चाहते तो शास्त्रीय नृत्यों को या उपशास्त्रीय संगीत को शामिल करके लोक लुभावन, धनवर्षण किस्म के बैले तैयार कर सकते थे, पर यह नहीं किया गया। प्रतिज्ञापूर्वक नहीं किया गया। उनके बैले की थीमों पर बात बाद को। फिलहाल जिक्र उन पागलपनों का जो हर सृष्टि और हर बामकसद सर्जना के लिए जरूरी होता है।

प्रभात दा ने मेहनत को फन में ढालकर इतना सुन्दर बना दिया कि उनके प्रशंसक भारत के अलावा उन 28 देशों में फैले हैं जहाँ उनकी नृत्य नाटिकाएँ बार-बार प्रदर्शित हुईं। उन्होंने अपनी पृथक शैली विकसित की जिसमें भाव-प्रवणता का प्राचुर्य था। इससे उनकी पृथक पहचान भी बनी।

उनकी उपलब्धि का खाता बड़ा है

उनके द्वारा निर्देशित और चर्चित बैले हैं- क्षुधित पाषाण (1961), डिस्कवरी ऑफ इंडिया (1965), भैरवी (1972), मधुशाला (1978), पशुतंत्र (1979), तीन किस्से (1981), चक्रव्यूह (1987), दीपशिखा (1991), स्वर बिंब (1993), सुभाषचन्द्र बोस (1998)। बच्चों के लिए चतुर बंदर, चतुरंग आदि बैले विशिष्ट और उल्लेखनीय रहे हैं।

क्षुधित पाषण के सेट्स, दृश्य बिम्बों यहाँ तक कि कथा प्रस्तुति की बॉलीवुड की कई फिल्मों में नकल हुई है। डिस्कवरी इतिहास का नृत्य-रूपांतरण है वह भी इतिहास और उसके संदेश को बिना क्षति पहुँचाये। भैरवी, धार्मिक कुरीतियों और अंधविश्वासों के चलते स्त्री शोषण की परम्परा को चुनौती देने वाला बैले है। पशुतंत्र, जनतंत्र के नाम पर हो रहे पाखण्डों का कलात्मक भण्डाफोड़ है। शांति पर्व, जहाँ संस्था के संस्थापक शांतिवर्धन के कलावदान पर आधृत है वहीं स्वर बिंब संगीतात्मक अमूर्तन का अनूठा प्रयोग है। चक्रव्यूह, सत्ता की दुरभिसंधियों और सत्तालिप्सा के लिए किये जाने वाले षड़यंत्रों को समकालीन संदर्भों में भी अनावृत्त करता है, वहीं सुभाषचंद्र बोस, इतिहास के प्रायः अलक्षित पक्ष को सामने लाता है।

मधुशाला संभवतः अकेला बैले है जिसमें प्रभात दा बतौर नर्तक आद्यंत उपस्थित रहे हैं। गहरे तनाव और विपरीत भावाभिव्यक्तियों वाला यह बैले एक समाज-उपेक्षित शराबी की शरण में गये व्यसनी पर केन्द्रित है। पूरा बैले स्वप्न-दृश्यों में है। 'तसव्वुरात की परछाइयाँ उभरती हैं, कभी गुमान की सूरत कभी यकीं की तरह!' यह करुण-कथा चेतन और अवचेतन के दृश्य बिम्बों का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। एक शाम सड़क किनारे के ढाबे में कुछ पीने वाले एकत्र होते हैं। प्रथम पुरुष के रूप में नर्तक-नायक प्रभात दा सबसे पहले आते हैं और सबसे अंत में जाते हैं। पैग-दर-पैग वे जीवन के कुहासे में धँसते जाते हैं और जीवन की विडंबनाओं के विविध रूपों को प्रस्तुत करते जाते हैं।

यह सच था कि मुंबई में पवई लेक के पास एक कीमती भूखंड पर एक विशाल वट-वृक्ष के नीचे बैले का अभ्यास चलता था, यह भी सच है कि कई लोकप्रिय फिल्मों की नृत्य संरचनाएँ और कोरियोग्राफी एल.बी.टी. से प्रभावित रही हैं, यह भी सही है कि कई नामी-गिरामी फिल्मों जिनमें आर.के. स्टूडियोज की फिल्में भी हैं- बैले कलाकारों ने नृत्य संरचनाएँ दी हैं लेकिन कलाकारों के फुदककर फिल्मों के एक्स्ट्रा बनने की बीमारी से बैले ग्रुप तंग था। एक बार समस्या का जिक्र इंदिरा गांधी से किया गया और कहीं और जगह दिलवाने की प्रार्थना की गयी। हालांकि जवाहरलाल नेहरू की दिलवाई जमीन देहरादून में थी- पर वह भू-माफिया के साथ मुकदमेबाजी में फँसी थी। इत्तिफाक से उस वक्त मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री द्वारका प्रसाद मिश्र थे। उन्होंने कहा- बताइये आपको मध्यप्रदेश में कहाँ जगह चाहिये, हम आपको तुरंत उपलब्ध कराएँगे। प्रभात गांगुली उठे, नक्शे के पास गये, मध्यप्रदेश के हिस्से पर नजर गड़ाई और ग्वालियर पर उँगली रखकर कहा कि गुल-ग्वालियर ठीक रहेगा? गुलबर्द्धन ने कहा- ठीक है, तानसेन की नगरी, यह कलातीर्थ तो होगी ही। और ट्रुप ग्वालियर आ गया जहाँ नवनिर्मित विज्ञान महाविद्यालय होस्टल उन्हें मिल गया। तानसेन के अलावा उन्हें ग्वालियर के इतिहास-भूगोल, वृत्तियों और नगर-स्वभाव के बारे में कोई जानकारी नहीं थी- मगर कलाओं की जरखेज जमीं छोड़कर, सागर-झील का किनारा छोड़कर सूखी झील में बसे ग्वालियर आने में उन्होंने क्षणांश नहीं लगाया।

यहाँ आर्थिक दुरावस्थाएँ बढ़ीं। फिर ग्वालियर छूटा क्योंकि औसतन एक साल में एक के मान से भी उन्हें 'शो' नहीं मिलते थे। भोपाल में नयी कला-राजधानी बनने का बड़ा हल्ला हुआ। उत्सव 73 में 'भैरवी' नृत्य नाटिका का प्रदर्शन हुआ जिसे भूरि-भूरि प्रशंसा मिली। सरकार ने तमाम वादे किये-ट्रुप भोपाल आ गया। एक सरकारी बंगला पैंतालीस बंगले में अलॉट भी हुआ। पर एक पत्रकार ने यह उपलब्धि भी उनसे छीन ली। सरकार ने यह बंगला अंततः पत्रकार को दे दिया। तपोनिष्ठ कला-साधना का इतिहास, एक पत्रकार की ठसक से हार गया। मजबूरन निजी मकान बदल-बदल कर प्रभात दा को रहना पड़ा और यही हालत उनके कलाकारों की रही। नृत्य-अभ्यास और बैले की विपुल सामग्री रखने के लिए उन्होंने पत्रकार-भवन किराये पर लिया, वो भी अंततः (पत्रकारों की आंतरिक राजनीति के चलते) उन्हें छोड़ना पड़ा। बाद में बहुत कोशिशों के बाद देहरादून की जमीन बेचकर, प्रभात गांगुली और गुलबर्द्धन द्वारा अपने जीवन भर की कमाई लगाकर रंगश्री के रागबंध की रचना हुई। मृत्यु पूर्व यह सपना साकार हुआ जिसे प्रभात दा ने शांतिवर्द्धन-गुलबर्धन के साथ मिलकर देखा था।

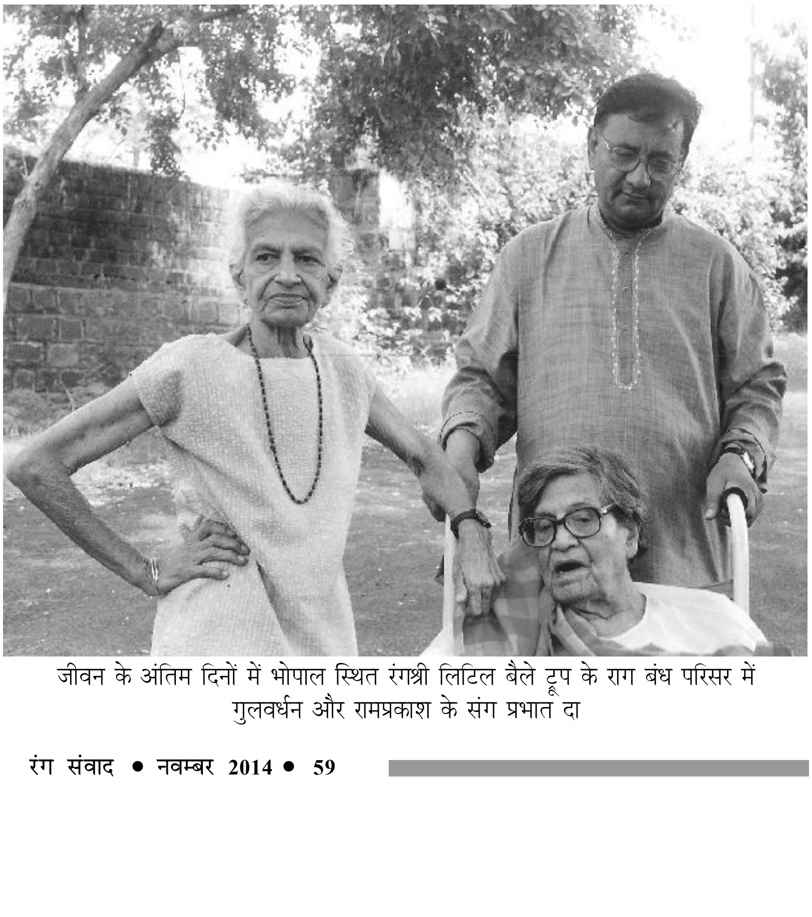

जीवन के अंतिम दिनों में भोपाल स्थित रंगश्री लिटिल बैले ट्रूप के राग बंध परिसर में गुलवर्धन और रामप्रकाश के संग प्रभात दा

'मैं बरज्यो कै बार तुम इत कित लेत करौट / पँखुरी लगे गुलाब की परिहै गात खरौट।' ...रंग का, रूप का, खुश्बू का यह जो प्रभात गांगुली था, जिसका चमड़ा फूल की पँखुरी से भी छिल सकता था- ताउम्र घाव खाता रहा, लहू बदन से रिसता रहा पर कभी किसी के खिलाफ कुछ बोला नहीं। एक बार तो पटवा सरकार के समय उन्हें शिखर सम्मान दिया गया और उसके अगले ही दिन उनको प्रदत्त भूखंड छीनने के आदेश हो गये। तब प्रभात गांगुली ने शिखर सम्मान लौटाने की घोषणा की। इससे मामला गर्म हुआ और किसी तरह ज़मीन बची। मगर गात और आत्मा पर खरोंच ज़रूर ली।

एक विधवा माँ का गरीब बेटा, जिसे न स्कूल मुहैया हुआ न खिलौने, यहाँ तक कि मोहल्ले के लड़कों ने उसे साथ खिलाने लायक न समझा। एक बार उसे एक संगेमरमर का टुकड़ा पड़ा मिला। - वह उसी से खेलना चाहता था पर सम्पन्न लड़कों की नजर उस पर पड़ गयी और संगेमरमर के सितोलिया के पत्थर को चुराने का आरोप लगाकर उसे मारा गया। वह अपमान-तिरस्कार और कुंठा से भर उठा...। एक पैग और...। वह लड़कियों, सुन्दर-युवतियों के वृत्त में नृत्यरत है... नाच शबाब पर है। उसकी कला की सराहना हो रही है। युवतियाँ उसकी कला के प्रति अनुरक्त दिख रही हैं- तभी एक बलिष्ठ युवक आता है और उसे पीटते हुए दृश्य से बाहर ले जाता है। शराबी कहना चाहता है : हम वो कमज़र्फ नहीं जो बहकते जाएँ / मिस्ले गुल जाएँ, जिधर जाएँ महकते जाएँ।

लेकिन फूल का स्वतंत्र रूप से खिलना ही तो समाज में कठिन है। पूरा वातावरण उस स्वाभाविक खिलन के विरुद्ध है। ...एक होली याद आती है नशे की तरंग में। एक सुकुमारी से होली खेलना भी याद आता है। यह अकेली व्यक्ति है जिसने उसे सहानुभूति से देखा, समझा, चाहा और उसकी पारदर्शिता से प्यार किया, मगर उसके घरवाले आकर होली के रंग में भंग कर देते हैं और उसकी शादी जबरन किसी और से कर देते हैं- होली का दृश्य विवाह और बरात के दृश्य में बदल जाता है। इकलौते प्यार और सहानुभूति को खोकर नृत्य नाटिका का कथानायक मुकम्मल 'बेवड़ा' बन जाता है। हरचंद कोशिशों के बावजूद न उसे समाज में सम्मान मिलता है न जगह। असामाजिक होना उसकी नियति बना। कुंठा, निराशा और तज्जनित अपकार्य उसके पाथेय बने। अंततः वह एक दिन चलती ट्रेन से कूदकर खुद को खत्म कर लेता है। जिनको अपने जीवन को कोई मकसद देने का हक भी मुहैया न हुआ, उनके लिए जीवन, 'सुबह होती है शाम होती है, उम्र यूँ ही तमाम होती है' से अधिक क्या है?

मैंने कई बार प्रभात दा से पूछा इस करुण कथा में आप कितने हैं? प्रभात दा ने कभी जवाब नहीं दिया। दिया भी तो एक मोनालिसा जैसी जटिल मुस्कान के द्वारा जिसका स्पष्ट अर्थ कभी समझ में नहीं आया। कैफी याद आते हैं- 'जिस तरह हँस रहा हूँ पी पी के ग़म, यूँ दूसरा हँसे तो कलेजा निकल पड़े।'

प्रभात दा के निर्देशन में मैंने कला मंदिर के एक जासूसी नाटक 'किसका हाथ' में अभिनय किया। नाटक पहले भी बहुत किये थे पर नाटक की बारीकियों, उसके अंग-उपांगों के बारे में पहली बार उनसे जाना। वरना हमारे लिए किरदारों की नकल ही नाटक था। भाँड-मिरासी स्वांग धरते हैं, नाटक नहीं करते, यह उन्हीं से जाना।

दादा और गुल दी के साथ ग्वालियर और भोपाल में कितनी शामें, कितने घंटे, कितने दिन गुजारे हैं, यह शायद कोई नहीं बता सकता। ऐसा भी हुआ, जब महीनों नहीं मिले। अंतिम दिनों में बहुत अशक्त थे। मैं कहता- 'हलो ओल्ड यंगमैन'- तो वे मुस्कुरा देते या हाथ हौले से दबा देते। वे मेरे सबसे उम्रदराज मित्र थे। मुझसे ढ्योडी उम्र के। उम्र के फासले कैसे पाटे जाते हैं, काश किसी ने प्रभात दा से सीखा होता।

मेरी बेटी की शादी में न प्रभात दा आये, न उनका तोहफा। गुल दीदी भी नहीं आयीं। गुस्से में घर गया तो देखा प्रभात दा बेसुध सोये थे। खाना बनाने वाले प्रहलाद और गिरीश महंत ने बताया कि कल ही दादा हॉस्पिटल से डिस्चार्ज होकर आये हैं। शिकायत खत्म हो गयी, पर दादा से बात नहीं हुई। मैं लौट आया। बाद में वे कब अस्पताल में कभी न लौटने के लिए भरती हुए, पता ही नहीं चला। वरना अस्पताल मेरे घर से बहुत पास है।

वह दुर्भाग्यपूर्ण दिन कभी भुलाये नहीं भूलता। ...बर्फ की सिल्ली पर दादा खामोश लेटे हैं। गुल दीदी ने ग्रेण्ड फेयरवेल देने के लिए उनका पसंदीदा संगीत चला रखा है। अगरबत्ती, लोबान का धुआँ है, फूल हैं। मैं खामोश। मुझे उनके मजाक याद आ रहे हैं- 'मेरे जनाजे को मंदिर-मसजिद के सामने से मत ले जाना, आजकल वहाँ नफरत घुलती हैं।... मयखानों के रास्तों से होकर जरूर ले जाना और दम भर के लिए गर्ल्स हॉस्टल के सामने जरूर रुकवा देना ताकि सौंदर्य साधक यह मुर्दा उठकर अंतिम बार सौंदर्य दर्शन कर सके और कह सके, खुश रहो अहले वतन, हम तो सफर करते हैं...।' उनकी जिन्दादिली पर सोच-सोच कर आँखें भर-भर आती हैं।

उस रात जब सब कुछ शांत-सा था, एक शांत निश्चल और सफेद शरीर के इर्द-गिर्द चन्द लोग थे। माधव, प्रहलाद, अभय फगरे, रमाकांत, बिन्दु जुनेजा, संगीता गुंदेचा, गजेन्द्र, तरुण, मोनिका, भूपेन्द्र, रानी और पद्मा। आनंद सिन्हा प्रेस को सूचना देने में व्यस्त था। रात को ही तय हुआ कि निराडम्बर जीवन जीने वाले व्यक्ति की

"प्रभात दा ने संघर्षपूर्ण, किन्तु भरा-पूरा जीवन जिया। मुकट बिहारी सरोज की एक काव्य पंक्ति उन्हें बहुत पसंद थी- जिसने सहा नहीं, उसने कहा नहीं। मैंने उन्हें साहिर लुधियानवी की 'परछाइयाँ' नज्म पर युद्ध विरोधी बैले ईराक-पर अमरीकी हमले के वक्त बनाने का सुझाव दिया था। घंटों दृश्य-दर-दृश्य बहस भी हुई थी, पर उनके गिरते स्वास्थ्य के चलते यह संभव नहीं हो पाया। स्व. रमाकांत मुझे कोसते थे। कहते थे- हो आया करो वरना रोओगे एक दिन! और 26 मई 2006 को वह अभागा दिन आ गया। मृत्यु के समय मैं घर पर था। एल.बी.टी. में मेरा नया फोन नम्बर नहीं था। उस रात बाहर आ-आ कर आँसू पोंछते देखकर एक साथी ने कहा- क्या होगा रोकर? वे भरा पूरा जीवन जीकर गये हैं। मैं क्या कहता, सिवाय इसके कि ''थमते थमते थमेंगे आँसू, रोना है, कोई खेल नहीं है।''"

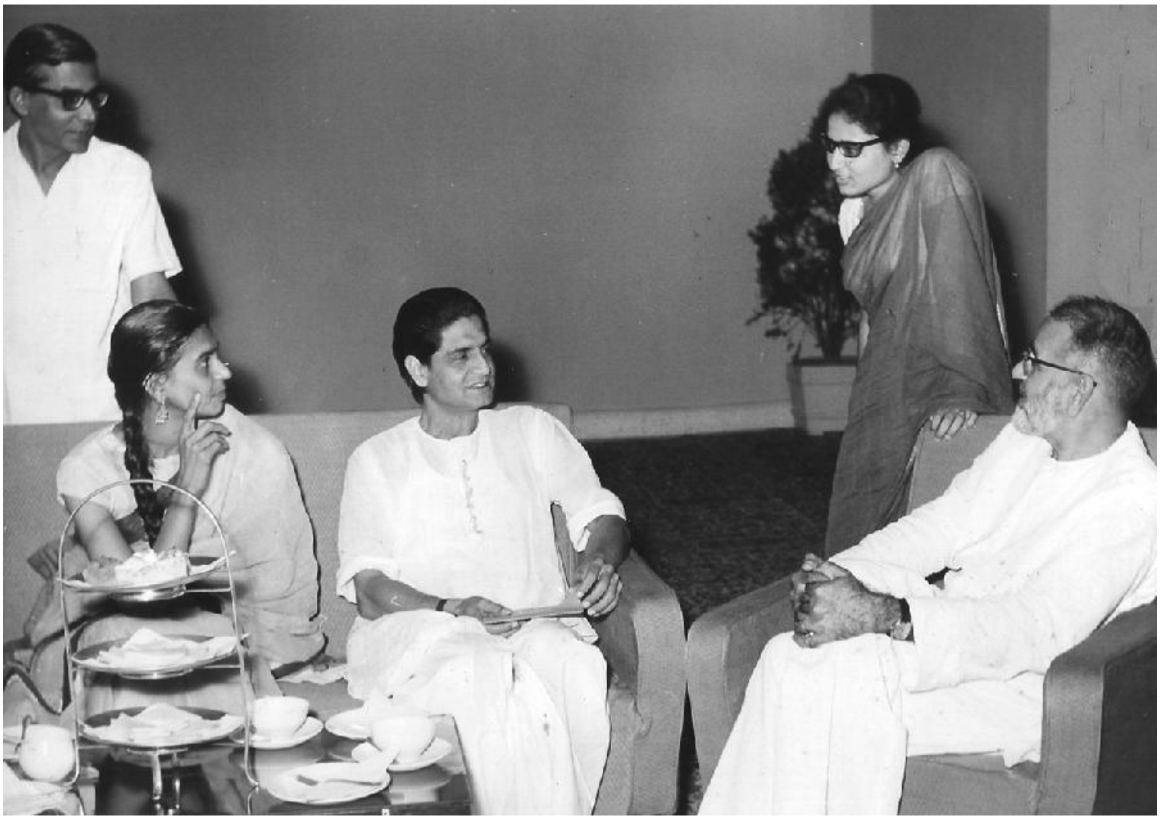

कवि अज्ञेय के साथ कला वार्ता : प्रभात दा, गुलदी और रंगश्री के परिजन

अंत्येष्टि भी निराडंबर ही होगी। कोई धार्मिक अनुष्ठान नहीं, कोई कर्मकाण्ड नहीं। जिन मूल्यों के लिए वह शख्स जिया, उसे उन्हीं के साथ विदा करना चाहिये। इसलिए उन्हें चार कदम पास के भदभदा श्मशान के बजाय दूरस्थ सुभाष नगर ले जाया गया जहाँ 'इलेक्ट्रिक क्रेमेटोरियम है। सोचता हूँ कि इतिहास भले ही प्रभात दा के अवदान को स्वर्णाक्षरों में लिखे पर ऐसे कला साधकों को कभी स्टेट ऑनर मिलेगा कि नहीं जिन्होंने मध्यप्रदेश का नाम दुनिया के 28 प्रमुख देशों में चमकाया! कृतघ्न सरकार के पास ऐसे साधकों के लिए एक परचम का कफन तक क्यों नहीं जुट पाता है?

सज्जाद जहीर की नज्म का अंश है- तुमने मोहब्बत को मरते देखा है? / चमकती हँसती आँखें पथरा जाती हैं / दिल के दालान में परीशान गर्म लू के झक्कड़ चलते हैं / गुलाबी अहसास के बहते सोते खुश्क / और लगता है जैसे / किसी हरी-भरी खेत पर पाला पड़ जाय / लेकिन यारब / आरजू के मुरझाये सूखे फूलों / इन गुमशुदा जन्नतों से / कैसी सन्दली / दिल आवेज खुश्बुएँ आती हैं।

प्रभात दा नहीं हैं। उनकी स्मृति है। खुश्बू है। रंगश्री लिटिल बैलेट्रुप ट्रस्ट से उनका रिश्ता उनके पार्थिव जीवन के साथ ही समाप्त नहीं हुआ। उन्होंने अपनी वसीयत रंगश्री की महासचिव गुलबर्द्धन के नाम कर दी जिसमें उनकी जिन्दगी भर की कमाई थी। वसीयत में उनका सपना था। रागबंध नाम से एक ओपन एयर थियेटर भर बन पाया था उसे प्रिसीनियम थियेटर का रूप देना बाकी था। मृत्यु उपरान्त उनकी कमाई से ओपन एयर को छत नसीब हुई। वाटर कर्टन नसीब हुआ। रागबंध अब भी अधूरा है। उसमें कुर्सियाँ नहीं हैं। एयर कंडीशनिंग नहीं है। थियेटर की जरूरत के मुताबिक लाइट इक्युपमेण्ट्स नहीं हैं। थियेटर का नाम ट्रस्ट ने प्रभात गांगुली स्मृति रागबंध रख दिया है। वह मकान जिसे चाव से प्रभात दा और गुल-दी ने बनाया था, उसे पुस्तकालय-सह संग्रहालय-सह शोध केन्द्र बनाने का काम जारी है। बेशक पूरे ट्रस्ट की इसमें रुचि है। यह संभवतः ग्वालियर के आर्टिस्ट कंबाइन और जबलपुर के सेठ गोविन्ददास निर्मित रिवॉल्विंग थियेटर के बाद अकेला थियेटर है जो केन्द्र या राज्य शासन की मदद के बगैर खड़ा है और फिलवक्त मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय की जरूरत पूरी कर रहा है।

यह प्रभात दा की खुश्बू ही है जिसकी बदौलत भोपाल के दीगर भवनों की तरह रंगश्री परिसर शादी घर, नीलाम घर या सेल महासेल का केन्द्र नहीं बना। इसका लेण्डयूज नहीं बदला। रंगश्री रंगभूमि ही बना हुआ है। यह प्रभाद दा की स्मृति के लिए प्रणति निवेदन जैसा ही तो है।

आज शताब्दी-वर्ष में उनको याद करते हुए मैं सोचता हूँ कि रंग-रूप और खुश्बू के प्रतिरूप कैसे पसीने की गंध से रचे जाते हैं। आज जब 'महानायक' और 'भारत रत्न' तेल, साबुन और इन्वर्टर बेचते नजर आते हैं तो अशक्त, बूढ़े प्रभात दा का असहमति में उठा हाथ याद आता है, जिन्हें न सिद्धान्तों से समझौता कभी रास आया, न कला को नीलाम घर बनाने वालों का ख्वाब। प्रभात दा ने समय के शिला लेख पर भले ही गाढ़ी स्याही से हस्ताक्षर नहीं किये लेकिन जो मूल्य गढ़े वे हमेशा ही हमें प्रेरित करते रहेंगे।

स्मृति : के.अनंत मूर्ति

अब अनंत में मूर्ति

मंगलेश डबराल

इक्यासी वर्ष के उडुपि राजगोपालाचार्य अनंतमूर्ति ने भरापूरा जीवन जिया. पांच उपन्यासों, आठ कहानी संग्रहों, एक नाटक कविता के तीन और नबिंधों के आठ संग्रहों की रचना की। भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार, साहित्य अकादमी की महत्तर सदस्यता और पद्मभूषण जैसे सम्मान प्राप्त किए। अपने समय के सांस्कृतिक-राजनीतिक परिदृश्य की बेबाक आलोचना की, विवाद भी पैदा किए और समकालीन बौद्धिक परिवेश पर अपने पुख्ता निशान छोड़े। ऐसे व्यक्ति का दुनिया से जाना प्रायः दुख का विषय नहीं होता, लेकिन अनंतमूर्ति के निधन पर एक गहरा अभाव शिद्दत से महसूस होता है जैसे हमने कुछ मूल्यवान खो दिया हो। शायद इसलिए अनंतमूर्ति उन सार्वजनिक बुद्धिजीवियों में से थे, जिनके लिए अपने समय की विसंगतियों की ओर संकेत करना, उसकी ज्यादतियों का विरोध करना एक बुनियादी जिम्मेदारी की मानिंद होता है। उनकी सक्रियता का ज्वलंत प्रमाण आम चुनाव से कुछ महीने पहले तब मिला, जब उन्होंने कहा कि अगर नरेंद्र मोदी देश के प्रधानमंत्री बने तो वे देश को छोड़कर चले जाएंगे। हालांकि बाद में उन्होंने अपने बयान को वापस ले लिया था, लेकिन उन्होंने तब इसका जो कारण बताया था, उसमें एक खतरे की चेतावनी निहित है। उन्होंने कहा था कि 'मोदी का सत्ता में आना हमारी सभ्यता में एक तरह का विचलन होगा और मुझे लगता है कि हम धीरे-धीरे अपने लोकतांत्रिक या नागरिक अधिकारों को खो देंगे। किसी दबंग का सत्ता में आना जनता को कायर बना देता है।'

अनंतमूर्ति के लेखकीय व्यक्तित्व की एक खूबी यह थी कि वे लोक संस्कृति और आधुनिक सभ्यता की गहरी समझ रखते थे। दोनों के बीच समान आवाजाही कर सकते थे और अपने तात्कालिक परिवेश को एक वृहत्तर परिवेश से जोड़ सकते थे। उनके निबंध इस बात के उदाहरण हैं कि कैसे एक लेखक अपनी जैविकता, स्थानिकता और अपने भूगोल को एक सार्वकालिक-सार्वजनीन अनुभव के रूप में देख सकता है। 1965 में उनका पहला उपन्यास 'संस्कार' प्रकाशित हुआ, जब वे सिर्फ 33 वर्ष के थे। ए.के. रामानुजन द्वारा सका अंग्रेजी अनुवाद होने के साथ ही 'संस्कार' को पश्चिमी देशों में एक अत्यंत महत्वपूर्ण भारतीय उपन्यास का दर्जा मिला। इस उपन्यास पर पट्टाभिरासी रेड्डी की फिल्म कन्नड़ के समांतर सिनेमा की पहली फिल्म मानी जाती है। फिल्म सेंसर बोर्ड ने इस पर शुरू में प्रतिबंध भी लगाया, लेकिन प्रदर्शित होने के बाद उसे सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार मिला। 'संस्कार' कर्नाटक के एक गांव में कर्मकांड की मार्फत ब्राह्मणवादी अंधविश्वास, अज्ञान और पाखंड को उधेड़ने वाला उपन्यास था, जिसमें पुराने और नए मूल्यों की सभ्यतागत टकराहट भी थी। वह समाज की धार्मिक सड़न की चीरफाड़ करने वाली कृति थी। एक वृत्तफिल्म के लिए बातचीत के दौरान अनंतमूर्ति ने इन पंक्तियों के लेखक से कहा था, 'शिमोगा में मेरे बचपन के घर की बैठक में रामायण-महाभारत की कहानियों की चर्चा होती थी, लेकिन पिछवाड़े गांव की औरतें मेरी माँ से अपनी शिकायतें-तकलीफें बतलाती थीं। मुझे उनमें ज्यादा रुचि थी। मैं उनकी तकलीफें सुनता और वहाँ से मैंने अपनी रचनाओं का तानाबाना लिया।'

'संस्कार' के अलावा 'भारतीपुर' और 'अवस्थे' अनंतमूर्ति के दो महत्वपूर्ण उपन्यास हैं जो क्रमशः हमारे समाज की जातिगत और राजनीतिक व्याधियों की पड़ताल करते हैं। कन्नड़ साहित्य में सामाजिक सरोकारों का नवाचार पैदा करने वाले 'नव्य' आंदोलन से गहरे जुड़े अनंतमूर्ति की ज्यादातर रचनाएं लोक कथाओं, ग्रामीण किस्सों, उपेक्षित-उत्पीड़ित जीवन से अपने सांस्कृतिक संदर्भ ग्रहण करती हैं और उसे शास्त्रीयता तक ले जाती हैं। अनंतमूर्ति गांधी दर्शन और राममनोहर लोहिया के समाजवादी विचारों से प्रभावित थे, लेकिन उन्होंने अपना एक 'रेडिकल' समाजवाद भी ईजाद किया। जाति व्यवस्था, सांप्रदायिकता और पूंजी की शोषक व्यवस्था ऐसे मसले थे, जिनके वे आजीवन घनघोर विरोधी रहे।

अनंतमूर्ति की पहचान एक शिक्षाविद के रूप में भी थी। उनकी मान्यता थी कि जब तक देश में समान शिक्षा देने वाले प्राथमिक विद्यालय नहीं होंगे और शिक्षा में गैरबराबरी बनी रहेगी, एक शोषणविहीन समतामूलक समाज की रचना नहीं हो सकती। अंग्रेजी के विद्वान होने के बावजूद वे भारतीय भाषाओं के पक्षधर थे। उनका कहना था कि उत्तर भारत के लोगों के लिए दक्षिण की भाषाएं सीखना और दक्षिण भारत के लोगों के लिए उत्तर की भाषाएं सीखना अनिवार्य किया जाना चाहिए, तभी एक वास्तविक भारतीय एकता संभव है। अपनी भाषा से उनका प्रेम ऐसा था कि उन्होंने कर्नाटक की कई जगहों के अंग्रेजी नामों को कन्नड़ में रखने का अभियान चलाया जिसके नतीजे में बेंगलौर को अब बेंगलुरु कहा जाता है। अनंतमूर्ति ऐसे बुद्धिजीवियों में थे जिनकी शाखाएं दूर-दूर तक फैली होती हैं, लेकिन जड़ें अपनी जन्मभूमि में, अपनी स्थानीयता में गहरे धंसी रहती हैं।

स्मृति : अप्पा जलगांवकर

एहसास हुआ कि अप्पा साहब के बजाने में सिर्फ पेटी ही नहीं बज रही है, सारंगी और बाँसुरी के सुर भी एक साथ छनकर आ रहे हैं। सारंगी भी इतनी लोचदार संगत कर पाएगी, यह आशंका तब भी बार-बार उठती रही। साथ ही यह भी कि आखिर अप्पा साहब के इस 'कमाल' का, रहस्य क्या है? कैसी साधना है उनकी कि एक साथ इतनी मधुरता रच और बिखेर पाते हैं।

अप्पा की पेटी और नाचती उंगलियाँ

विजयबहादुर सिंह

बचपन में जिस वाद्य से सबसे पहले निकट का परिचय हुआ, वह हारमोनियम था। पिता भी भजनों के शौकीन थे। अक्सर सुबह-सुबह व्यायाम करने और नहाने के बीच के समय का उपयोग वे हारमोनियम बजाकर करते। एक ओर सरसों के तेल और पसीने की मिली-जुली देह-गंध होती तो दूसरी ओर उनका मेघ मन्द्र स्वर 'उठ जाग मुसाफिर भोर भई अब रैन कहाँ जो सोवत है' का आलाप ले रहा होता। उनके इधर-उधर होते ही मैं भी उस बाजे पर हाथ फैरने बैठ जाता, पर भजन के बदले तब मुझे 'मेरा तन डोले मन डोले' वाला फिल्मी गीत ज्यादा अच्छा लगता। उन्हीं दिनों समझ में आया कि हर घर में हारमोनियम की सदस्यता जरूरी है। बाजे के रूप में वह आज भी एक घरेलू बाजा है। थोड़ी-बहुत भी दिलचस्पी जिसे गाने-बजाने में है, उसके घर यह अक्सर दिख जाता है। बाद में सितार, गिटार, वायलिन, सारंगी, तबला से भी परिचय हुआ और लगा कि असली बाजे तो ये हैं। 'पेटी' तो बस पेटी ही है। भानुमति का पिटारा। कामचलाऊ। मोटे-मोटे कामों के लिए ठीक। ऊँची संगीत महफिलों में जिसकी कोई कद्र नहीं।

एकाध बार शास्त्रीय संगीत की बैठकों में पेटी बजाने वाले को देखकर तरस भी आया। गायक की तानें-मुरकियाँ जहाँ जैसी लहरें ले रही हैं, वैसा कुछ पेटी बजाने वाला कलाकार नहीं कर पा रहा है। उस वक्त भी लगा कि इस बाजे की औकात कितनी कम है। ऐसे मौके पर सारंगी का जवाब नहीं। तब से कितना वक्त गुजर चुका, कितनी महफिलें बैठीं और उठीं पर भ्रम बना ही रहा कि पेटी कोई धारदार और सम्भावनापूर्ण वाद्य नहीं है। और यह टूटा उस दिन जिस दिन अप्पा जलगाँवकर को बजाते देखा।

पं. जसराज के गायन का आयोजक होने के नाते मैं यों भी चिन्तित था कि कोई सारंगीबाज़ नहीं है। तब महफिल में भराव और मस्ती कैसे आएगी। लेकिन इस चिन्ता के कपूर होने में ज्यादा वक्त नहीं लगा। आलाप में ही मेरा यह भ्रम चकनाचूर हो गया कि पेटी एक निहायत मोटा और असमर्थ वाद्य है। एहसास यह भी हुआ कि अप्पा साहब के बजाने में सिर्फ पेटी ही नहीं बज रही है, सारंगी और बाँसुरी के सुर भी एक साथ छनकर आ रहे हैं। सारंगी भी इतनी लोचदार संगत कर पाएगी, यह आशंका तब भी बार-बार उठती रही। साथ ही यह भी कि आखिर अप्पा साहब के इस 'कमाल' का रहस्य क्या है? कैसी साधना है उनकी कि एक साथ इतनी मधुरता रच और बिखेर पाते हैं।

एक बार दिल्ली से लौटते वक्त वे अक्समात् विदिशा उतरे। पता चला मेरे मित्र सुखदेव लड्ढा जी के यहाँ ठहरे हैं। दो दिन बाद उन्हें भोपाल के 'संगीत कला संगम' में फिर पण्डित जसराज के साथ संगत करनी थी। उनसे बातचीत का मेरे लिए यह सुवर्ण अवसर था। कुरता-धोती पहन भागा-भागा मैं पहुँचा और चाय खत्म होते ही मैंने उनसे बातचीत शुरू कर दी। ढेरों सवाल मन में थे, खासतौर से पेटी को लेकर। अप्पा साहब के इस तरह बजाने और पेटी पर उनकी मास्टरी को लेकर भी। मैंने सवालों को सवाल के रूप में रखने के बजाय बातचीत के जरिए चीजों को जानने की शैली ज्यादा बेहतर पाई। सवाल करते वक्त हम काफी कुछ मुस्तैद और सावधान रहते हैं जैसे कि हम कोई प्रतिद्वन्द्वी हों। जवाब देने वाला भी तब काफी सम्हल चुकता है। बहुत सारे उत्तरों के ढाँचे अनावश्यक तौर पर वह पहले से

ही तैयार कर लेता है। मेरे लिए तब यही बेहतर था कि मैं सीधी-सादी चर्चा पर उतरूँ। उनसे जानूँ कि पेटी को उन्होंने अपने कॅरियर के रूप में क्यों और कैसे चुना?

अप्पा साहब ने लगभग अपनी यादों को खँगालते हुए, प्रकारान्तर से अपने पिछले दिनों के पन्नों के खोलते हुए बताया कि पहले वे गायक का कॅरियर अपनाने जा रहे थे, शुरू भी किया था पर बीच में ही पेटी हाथ लग गई। धार्मिक, सामाजिक और घरेलू कार्यक्रमों में इसकी जरूरत ज्यादा पड़ती थी, इस नाते इससे बिल्कुल सम्बन्ध तोड़ना मुमकिन नहीं था। तो सम्पर्क इस बाजे से कभी टूटा ही नहीं। पर जब भी किसी को बजाते देखा, तकलीफ ही ज्यादा हुई कि आखिर इतना बुरा भी बजाया जा सकता है इसे। तभी मन में यह चिन्ता चुनौती के साथ बैठ गई कि इसे खूबसूरती के साथ कैसे पेश किया जा सकता है। तब घर पर ही बैठकर रोज उँगलियाँ घुमाता रहा और जब विश्वास हो गया कि राह पाई जा सकती है तो बाहर के किसी कलाकार की संगत करने, उसके साथ रियाज कर अपने को बार-बार तौलने, ठीक और ठाक साबित करने, अपनी कमियों को दूर करने और अपने अभ्यास को परखने की इच्छा मेरी प्रबल हुई।

उन्होंने आगे याद किया- पड़ोस के मुहल्ले में ही शबर खाँ साहब थे। मैंने उनसे कहा, ''आप जब रियाज को बैठते हैं, मुझे भी शामिल कर लें। मैं आपके साथ पेटी बजाता रहूँगा।'' उन्होंने कहा फिर- 'गण्डा' बँधवा लो। मुझे क ख से तो शुरू करना नहीं था। तो मैंने वह नहीं किया। खाँ साहब को बीस रुपए प्रतिमाह देता था। उन्हीं के साथ रियाज करते-करते रागों को साधाकिया। यह 1945 के आसपास की बात है। फिर धीरे-धीरे पूना और उसके आसपास की महफिलों में जाने लगा तो और जगहों से भी बुलावे आने लगे। धीरे-धीरे लोगों को लगा कि मैं कुछ ठीक बजाता हूँ तो यह शोहरत भी दूर-दूर तक चली गई। तब भी रेडियो वाले मानने को तैयार न थे कि पेटी को संगीत महफिलों में शामिल किया जाय। आचार्य वृहस्पति जैसे लोग पेटी के कट्टर खिलाफ थे। अकस्मात् एक बार पूना की घरेलू गोष्ठी में हमारा उनका आमना-सामना हुआ। वे अपनी रिश्तेदारी में आए हुए थे। जिनके यहाँ आए थे, वे ही नृत्य कर रही थीं और मैं लहरा दे रहा था। आचार्य बड़े गौर से मेरा बजाना देख रहे थे। प्रोग्राम खत्म होने पर पेटी मेरे हाथ से ले ली और दो-चार उँगलियाँ रखीं तो उसमें से पें-पाँ जैसी बेसुरी आवाज़ें निकलने लगीं। हिकारत से बाजा उन्होंने मेरी ओर सरका दिया।

मुझे उनका यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। मालूम भी था मुझे कि पहले वे बम्बई में पेटी ही बजाया करते थे। मेरे मुँह से अनायास ही निकला- 'किसी ज़माने में आप पेटी भी अच्छी बजाते थे।' बात काफी बुरी लगी उन्हें। तैश खाते हुए उन्होंने प्रत्युत्तर दिया- 'कभी हम जेल भी गए थे तो इसका मतलब क्या?' बहरहाल हम सब लोगों के मेहमान थे। मैं चुपचाप पेटी लेकर घर चला आया। जान गया था कि मेरी साधना और उनकी अनभ्यस्त उँगलियों का फर्क कहाँ है? इससे सम्बन्ध बिगड़े ही रहे। कई बरस तक यही चला। कई-कई बार दिल्ली की महफिलों में जाना हुआ पर वृहस्पति आचार्य से भेंट नहीं की।

एक बार सालों बादवे दिल्ली के ही शंकरलाल संगीत सम्मेलन के कमानी हाल में सबसे आगे बैठे मिले। मैं स्टेज पर संगत कर रहा था। जलसा खत्म हुआ तो किसी ने कान में आकर कहा- ''आपको आचार्य जी याद कर रहे हैं।'' लगा कि कहाँ से यह मुसीबत सामने आकर खड़ी हो गई। फिर भी मन को पहलवान की तरह तैयार कर नीचे उतरा तो आचार्य वृहस्पति अपनी सीट से उठकर पैसेज में आकर खड़े हो गए थे। नजदीक गया तो कहने लगे- ''अगर पेटी ऐसी बजायी जाय तो कौन खिलाफत करेगा। अप्पा साहब, बहुत अच्छा बजाते हैं आप। मेरे घर चलिए। कल दोपहर के भोजन पर पधारिए।'' मैंने उन्हें सूचित किया कि सबेरे मेरा एक और प्रोग्राम है। वह दोपहर तक खत्म होगा। और मेरी पत्नी भी आई हुई हैं। वह भी साथ रहेंगी। तो उन्हें और भी खुशी हुई। दूसरे दिन दोपहर को उन्होंने अपनी गाड़ी भेज दी। हम दोनों गए। हम लोगों ने साथ-साथ खाना खाया।आचार्य जी मुझ पर काफी मुग्ध दिखे। लगा, वे मेरे मुरीद हो उठे थे। मेरा बजाना देखने के बाद ही उन्होंने रेडियो संगीत सम्मेलनों में पेटी को भी प्रवेश दिलवाया। नहीं तो पहले यह बाजा अछूत ही माना जाता था। जब हम दोनों में गाढ़ी छनने लगी तो पूना आने पर एक बार उन्होंने मजेदार किस्सा सुनाया। कहने लगे- ''अप्पा! अखिल भारतीय रेडियो संगीत सम्मेलन में तेरह आर्टिस्टों ने एक साथ तुम्हें संगत के लिए माँगा। आयोजकों की बैठक हुई तो मैंने पूछा- 'यह अप्पा जलगाँवकर

वे गायक का कॅरियर अपनाने जा रहे थे, शुरू भी किया था पर बीच में ही पेटी हाथ लग गई। धार्मिक, सामाजिक और घरेलू कार्यक्रमों में इसकी जरूरत ज्यादा पड़ती थी, इस नाते इससे बिल्कुल सम्बन्ध तोड़ना मुमकिन नहीं था। तो सम्पर्क इस बाजे से कभी टूटा ही नहीं। पर जब भी किसी को बजाते देखा, तकलीफ ही ज्यादा हुई कि आखिर इतना बुरा भी बजाया जा सकता है इसे। तभी मन में यह चिन्ता चुनौती के साथ बैठ गई कि इसे खूबसूरती के साथ कैसे पेश किया जा सकता है। तब घर पर ही बैठकर रोज उँगलियाँ घुमाता रहा और जब विश्वास हो गया कि राह पाई जा सकती है तो बाहर के किसी कलाकार की संगत करने, उसके साथ रियाज कर अपने को बार-बार तौलने, ठीक और ठाक साबित करने, अपनी कमियों को दूर करने और अपने अभ्यास को परखने की इच्छा मेरी प्रबल हुई।

हैं कौन, जो तेरह-तेरह लोग इसे माँग रहे हैं। आखिर क्या हम इस आदमी के टुकड़े करके पेश करेंगे? कौन है यह? अप्पा! मुझे कितनी खुशी हुई, तुम्हें बता नहीं सकता।' अप्पा ने जैसे संतोष और खुशी की साँस लेते हुए कहा- 'मुझे अपने वादन पर तो पहले ही से भरोसा था, अब तो खैर कोई सवाल ही नहीं है। मैंने अपने समय के सभी बड़े आर्टिस्टों के साथ बजाया है। जसराज तो खैर मेरा एक हारमोनियम 'सुर' बना कर अपने पास ही रखते हैं।'

बात आगे बढ़ाने के खयाल से मैंने कहा- 'अप्पा! आप तो अभी कुछ ही दिनों पहले विदेशों में भी बजाकर लौटे हैं। वहाँ का आपका अनुभव कैसा है?' उन यात्राओं की रोचक यादों का हवाला देते हुए उन्होंने बताया कि वहाँ एक युवती प्रोग्राम के बाद आकर मुझसे पूछने लगी- ''बजाते तो आप बहुत अच्छा हैं पर यह कैसे हो जाता है कि आपके बजाने में 'कण्टीन्यूटी' बराबर बनी रहती है। हम

लोगों के हाथ से तो यह बार-बार टूट जाती है। आपका बजाना कभी खत्म नहीं होता लगता।'' तब मुझे लगा कि यही मेरी विशेषता है। मुझे लगा मेरा हिन्दुस्तानी होना सार्थक हो गया।

फिर तो वे बहने से लगे- हमारे यहाँ काल की कल्पना अखण्ड है। ऋतुओं के खूबसूरत चक्र की तरह जीवन और कलाओं का चक्र भी उतना ही शाश्वत और मिठास भरा है। यही हमारी असली पहचान है। एक दूसरी घटना अमरीका की है। प्रोग्राम ख़त्म हुआ तो एक नवयुवक सरदार ने आकर मेरे पाँव छुए। मैंने पूछा- आप मुझे कैसे जानते हैं? कहा- ''दिल्ली का हूँ और कई बार सम्मेलनों में आपको सुन चुका हूँ। आपने हारमोनियम को वह प्रतिष्ठा दिलाई है, जो रामनारायण ने सारंगी और बिस्मिल्ला खाँ ने शहनाई को दिलाया है।'' हिन्दुस्तान में मुझे बुलाने और आदर देने वालों की कोई कमी नहीं पर यह बात उस नवजवान तबला वादक ने, जो हिन्दुस्तानी ही था, मुझसे सुदूर विदेश में कही तो मुझे अच्छी लगी। लगा कि मैं अपने क्षेत्र में कुछ कर सका हूँ।' अप्पा के चेहरे पर आत्मसंतोष की लहर सी फैल गई।

इतना कहने के बाद जाने कैसे वे दूसरे मूड में आ गए। अचानक काफी गम्भीर से हो उठे। कहने लगे- 'पेटी को बजाने वालों ने ही काफी बदनाम कर रखा है इसे। गलत सुर लगाते हैं। अपने बजाने को चुनौती के रूप में नहीं लेते। सिर्फ गाते-बजाते रहना चाहते हैं। इससे कलाकार की इज्जत तो घटती ही है, बाजे की कीमत भी घट जाती है। कोई भी बाजा अच्छा या बुरा नहीं होता। उसका यह सब होना कलाकार की कलाकारी पर निर्भर है। स्वर की साधना के साथ-साथ कलाकार की कल्पनाशीलता भी प्रखर होनी चाहिए। अन्यथा सारी साधना यांत्रिक और उबाऊ हो जाएगी। भारतीय संगीत और पश्चिमी संगीत की इस मूलभूत पृथकता को जान लेना चाहिए। पश्चिमी संगीत में नोटेशन्स तय हैं। कलाकार उन्हीं के सहारे अपनी चतुराई दिखा सकता है। अपने यहाँ इस मामले में काफी छूट मिली हुई है। हम कलाकार लोग वक्त जरूरत पर इस छूट का इस्तेमाल करते हुए अपनी स्वतंत्र कल्पना का उपयोग करते हैं। इसीलिए एक ही राग अलग-अलग कण्ठों से पेश होकर अपनी अलग-अलग खूबसूरती दिखाता है। भीमसेन जोशी का रागदरबारी या जसराज और कुमार गन्धर्व के विलम्बित खयाल की यही तो खूबी है कि वे राग को मूर्त कर देते हैं। वह एक नयी चमक और स्वरूप के साथ हमारे सामने आ खड़ा होता है। यही इन कलाकारों की खूबी भी है और कलाकारी भी।

मैं लक्ष्य कर रहा था अप्पा साहब ग्वालियर घराने का नाम अपनी बातचीत में कहीं नहीं ले रहे हैं। मैंने थोड़ी इधर-उधर की बात करते पूछा- 'ग्वालियर घराने के लोग भी क्या अब पेटी पर भरोसा करने लगे हैं?' मेरे इस सवाल पर अप्पा का चेहरा थोड़ा सख्त हो आया। फिर उनके होठों से ये शब्द फूटे- 'ग्वालियर घराने के लोग ग्रामर पर बहुत भरोसा करते हैं। जैसे कि ग्रामर ही सब कुछ हो। अब यह उनकी अपनी बात है।' इतना कह वे चुप हो गए। शायद क्षुब्ध और उदास भी।

अपने हिन्दू संगीत परिवारों में, आपकी निगाह में कलाकारी के विकसित होने की कितनी क्या सम्भावना आप पाते हैं? जवाब में उन्होंने कहा- इस मायने में हम, मुसलमान परिवारों का मुकाबला नहीं कर सकते। रियाज़ के वक्त वे लोग बिल्कुल डिस्टर्व नहीं करते। घर में अगर नमक नहीं है तो रियाज से उठाएंगे नहीं। पर अपने यहाँ नमक रियाज से ज्यादा जरूरी है। इसीलिए उनका जो रियाज वाला पक्ष है, वो पक्का है। अपने यहाँ परिवारों में संगीत या कला की साधना को लेकर इतना सम्मान और इतनी निष्ठा नहीं है।

संगीत-विद्या का जानकार न होने के कारण कोई तकनीकी बातचीत तो मैं उनसे कर भी क्या पाता। फिर वक्त भी हो ही चला था। अप्पा भी किसी और मूड में आने लगे थे। तब मुझे समापन कर उनसे विदा लेना ही समुचित लगा। उनसे बातें कर यह तो लगा कि दुनिया बहुरंगी है किन्तु कलाकार के द्वारा भरे गए रंगों का सौन्दर्य सर्वोपरि है। यह वह आत्मप्रकाश है जिसे वह कठिन साधना के बाद किसी कला बोध की तरह अर्जित कर पाता है। इस रूप में वह किसी तपस्वी से कम नहीं है। यह भी समझ में आया कि दुनिया की सारी तपस्याएँ हमें बार-बार एक और आलोक से भरती जाती हैं और हम इसी के भरोसे अपने जीवन के रास्तों को काटते और पूरा करते चलते हैं। हमारा यह सफर तब सफर नहीं ही लगता, जीवन का उल्लास बन जाता है।

अपने हिन्दू संगीत परिवारों में, आपकी निगाह में कलाकारी के विकसित होने की कितनी क्या सम्भावना आप पाते हैं? जवाब में उन्होंने कहा- इस मायने में हम, मुसलमान परिवारों का मुकाबला नहीं कर सकते। रियाज़ के वक्त वे लोग बिल्कुल डिस्टर्व नहीं करते। घर में अगर नमक नहीं है तो रियाज़ से उठाएंगे नहीं। पर अपने यहाँ नमक रियाज से ज्यादा जरूरी है। इसीलिए उनका जो रियाज़ वाला पक्ष है, वो पक्का है। अपने यहाँ परिवारों में संगीत या कला की साधना को लेकर इतना सम्मान और इतनी निष्ठा नहीं है।

स्मृति : सुरेश पंडित

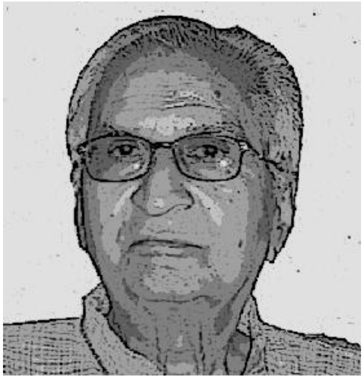

एक समावेशी आलोचक का जाना

अरुणेश शुक्ल

हिन्दी में ऐसे आलोचकों की एक लम्बी परम्परा रही है जिन्होंने बिना किसी शोर-शराबे के, प्रसिद्धि की लालसा के बगैर बहुत खामोशी से सिर्फ सार्थक लेखन किया है उनका लेखन ही उनकी पूँजी रहा है। जाहिर तौर पर ऐसे लोग सिर्फ अपने लेखन से पहचाने जाते हैं। उन्हें किसी के प्रमाण पत्र की जरूरत नहीं होती।

वरिष्ठ आलोचक सुरेश पंडित का आलोचना कर्म उन्हें एक ऐसे आलोचक के रूप में स्थापित करता है जो लगातार समसामयिक ज्वलंत मुद्दों से टकराने का माद्दा या कि नैतिक ताकत रखता था। पंडित जी ने लेखन बहुत देर से प्रारम्भ किया, किन्तु जब इस क्षेत्र में उतरे तो पूरी तैयारी के साथ। लेखक व लेखन को लेकर उनका नजरिया क्या था उसे उनके उस कथन से समझा जा सकता है जो उन्होंने संतोष चौबे की कहानी 'लेखक बनाने वाले' से उद्धृत किया था- ''लेखक बनने के लिए पहली शर्त है कि वो लिखना शुरु करे और दूसरी शर्त है पढ़ना शुरू करे। बिना पढ़े, बिना जाने आपकी बात में घनत्व नहीं आ सकता, गहराई नहीं आ सकती।'' अर्थात् बिना पढ़े लेखन कर्म को वह जायज नहीं मानते थे क्योंकि जिस प्रगतिशील परम्परा में वह अपने आपको खड़ा पाते थे वहाँ लिखने-पढ़ने की एक समृद्ध विरासत व रवायत रही हैं। इसीलिए वह आगे उद्धरण को और बढ़ाते हुए कहते हैं, ''तुम कहोगे किस चीज के बारे में लिखूं, तो मैं कहूँगा कि जीवन के बारे में लिखिए। जैसा तुमने उसे देखा, सुना, समझा वैसा ही लिखिए। अगर सच्चा लिखोगे तो भाषा और कहन तलाश लोगे, नहीं तो बाकी सब टोटका ही टोकका है। उसमें जीवन नहीं होगा।'' आशय यह कि पण्डित जी रचनात्मकता की जमीन क्या हो, इस बारे में बहुत स्पष्ट नजरिया रखते थे। जीवन रचना का आधार है। जीवन से कटी रचना निष्प्राण होगी। सुरेश पंडित की यह मान्यता थी कि कंटेंट महत्वपूर्ण है, शिल्प तो कंटेंट खुद न खुद निर्मित कर लेगा। खासकर उसके लिए अलग से प्रयास किये जाने को वे कहीं न कहीं रचना व रचनाकार दोनों की कमजोरी ही मानते थे। वस्तुतः सुरेश पंडित का पूर्वोक्त कथन जो उन्होंने संतोष चौबे की कहानी के हवाले से कहा था यह सिद्ध करता है कि वह मुक्तिबोध के ज्ञानात्मक संवेदना व संवेदनात्मक ज्ञान की अवधारणा में गहरी आस्था रखते थे। आप बोलते हुए, लिखते हुए किन उद्धरणों का चयन करते हैं, जिससे सहमति, असहमति रखते हैं, यह काफी कुछ आपकी जीवन दृष्टि, रचनात्मक समझ व राजनैतिक प्रतिबद्धता को व्यक्त करता है। पूर्व में उद्धृत दोनों कथन यह स्पष्ट करते हैं कि पंडित जी के पैर मुक्तिबोध व भवानी प्रसाद मिश्र की परम्परा की जमीन पर अवस्थित हैं। साथ ही वह राल्फ फॉक्स का जिक्र अपने वक्तव्यों व लेखन में लगातार करते हैं। राल्फ फॉक्स को समझे बिना उपन्यास पर बनाई गई कोई भी समझ कभी मुकम्मल नहीं कही जा सकती।

पण्डितजी के लेखन का दायरा काफी विपुल व समृद्ध है। साहित्य, राजनीति, शिक्षा, इतिहास आदि तमाम विषय उनकी कलम की जद में रहे हैं। नयी प्रतिभाओं को चिन्हित कर उन्हें सामने लाना पण्डितजी को बहुत अच्छा लगता था। सुरेश पंडित अपनी आलोचना का प्रयोग किसी को उठाने, गिराने या निंदा-प्रशंसा हेतु नहीं करते थे। बल्कि जैसा कि एक बार उन्होंने मुझसे व्यक्तिगत बातचीत में कहा था कि, ''आलोचक का काम रचना में यदि एक पंक्ति भी अच्छी व सुंदर है तो सबसे पहले उसे उद्घाटित करना होता है।'' के लिए वह आलोचना करते थे। रचनाकारों के उत्साहवर्धन में उन्होंने सत्ता विमर्श के आधार पर कृतियों के मूल्यांकन व समय तथा समाज को समझने की है। उस किताब को पढ़कर पता चलता है कि पंडितजी की अपने समकाल में अवस्थित कितनी गहरी है। कहीं न कहीं पंडित जी यह मानते थे कि किसी भी रचना का पाठ प्रथमतः समकालीन परिस्थितियों में ही होगा। उनकी एक बड़ी चिन्ता यह भी थी कि जब हमारी लिखत व पढ़त सत्ता द्वारा गहरे प्रभावित की जा रही है। बदली जा रही है, हमारी प्रतिरोधी चेतना को लगातार कुंद किया जा रहा है ऐसे में बचाव सामूहिक प्रतिरोध की लौ को कैसे जिन्दा रखा जाये। जाहिर तौर पर इसके लिए वे रचनात्मकता को रचनाकारों को बड़ी हसरत से देखते थे।

वह मानते थे कि इस कठिन समय में लेखकों व रचनाकारों पर जिम्मेदारी ज्यादा है। उन्हें बार-बार यह लगता था कि लेफ्ट पार्टियों को आत्मालोचन की जरूरत ज्यादा है। मंचों से और व्यक्तिगत बातचीत में भी वे इस सवाल को लगातार उठाते थे कि आखिर लेफ्ट पार्टियों का आधार क्यों लगातार सिकुड़ता जा रहा है। हम लगातार एक स्पेस छोड़ते जा रहे हैं जिसे अन्य लोग अर्थात् प्रतिक्रियावादी ताकतें हथियाती जा रही हैं। संतोष चौबे का उपन्यास 'क्या पता कामरेड मोहन' उन्हें विशेष प्रिय था क्योंकि इसका स्वर भारतीय मार्क्सवादी पार्टियों के आत्मालोचन का है। चूंकि सुरेश पंडित जीवन को रचना का आधार मानते थे इसलिए इसमें कोई अचरज नहीं कि जहाँ कहीं भी, जिस भी रचना में वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ जीवन के राग-रंग देखते थे, तीज-त्यौहार देखते थे, प्रकृति देखते थे, जीवन के वास्तविक संघर्ष व पीड़ायें देखते थे उस पर हुलस कर लिखते थे।

पण्डित जी की एक और बड़ी खासियत यह थी कि वह अपने समय के तमाम क्षेत्रों में अद्यतन रहते थे। विज्ञान, साहित्य, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाज विज्ञान की नवीनतम पुस्तकों पर वह बातचीत किया करते थे। आज जब पण्डित जी हमारे बीच नहीं हैं तब उनका लिखा हुआ हमें लगातार रोशनी देगा साथ ही यह भी बताता रहेगा कि लिखने के लिए पढ़ना, अद्यतन रहना और प्रश्नाकूलता बहुत जरूरी है।

स्मृति : ज्योत्सना मिलन

हम अचानक बीत जायेंगे

महेन्द्र गगन

होने की नोक पर थिरकता/उसका न होना/ इतना सारा था/कि ऊँगली पर के गोवर्धन की याद दिलाता था

ज्योत्सना मिलन की ये कविता बरबस उनके न रहने पर याद आती है। कविता, उपन्यास और कहानी के साथ-साथ 'अनुसूया' का सम्पादन, सेवा से जुड़कर कामकाजी महिलाओं को उनके श्रम का उचित मूल्य दिलवाना उनमें स्वाभिमान की ज़िन्दगी जी सकने का आत्मविश्वास पैदा करने का काम ज्योत्सना जी चुपचाप किया करती थीं। पूरे परिवार की धुरी वे थीं तो सामाजिक रिश्तों का व्यवहार भी पूरी शिद्दत से निबाहती थीं। इस सबके बीच वे अपना रचनात्मक लेखन कब कर लेती थीं पता ही नहीं चलता था। मेरे उनसे बहुत ही आत्मीय रिश्ते रहे हैं। उनका स्नेहिल आशीर्वाद मुझे हर समय मिलता रहा। दुःख की घड़ी हो या सुख की, ज्योत्सना जी सदैव मेरे साथ एक वरिष्ठ सदस्य की तरह खड़ी रहीं। अच्छी बात पर मुस्कुराती, खुश होती तो किसी बात पर डांटती, नाराज़ भी होती थीं।

इन्दौर यात्रा के दौरान खबर मिली की ज्योत्सना जी नहीं रहीं। उनके अंतिम दर्शन भी नहीं कर सका और न ही अंतिम विदा दे सका। ज्योत्सना जी से परिचय के पूर्व ही मैं उन्हें जानता था। प्रोफेसर्स कालोनी में हम लोग साथ रहते थे। 1972-73 से मध्यप्रदेश कला परिषद् के उत्सव के अन्तर्गत 'कविता की सुबह' हुआ करती थी। सुबह दस बजे के आसपास ज्योत्सना जी रमेशचन्द्रशाह और उनकी दोनों बेटियाँ, जो उस वक्त बहुत छोटी थीं के साथ रवीन्द्र भवन के कोने से नाला पार करते हुए कला परिषद् के सभाग्रह में जाते हुए देखता था। (हमारा घर रवीन्द्र भवन के सामने के घरों में कोने का था)। मैं भी कविता की सुबह सुनने जाता था जिसमें हमारे समय के नयी कविता के सभी प्रमुख हस्ताक्षरों से उनकी कविता सुनने का अवसर मिला। ज्योत्सना जी एवं शाह साहब तो अशोक वाजपेयी के साथ आगे मुख्य श्रोताओं में बैठते थे और मैं अन्त में बैठता था। भोपाल नया-नया आया था सो किसी से ज्यादा परिचय नहीं था मगर कविता सुनने के मोह में उस आयोजन में जाया करता था। तब भी ज्योत्सना जी को देखकर लगा था कि वे कोई महत्वपूर्ण शख्सियत हैं।

कला परिषद् की साहित्यिक, सांस्कृतिक गतिविधियाँ दिनों दिन बढ़ती गयीं और मैं अपनी रुचि के चलते उसके कार्यक्रमों में हिस्सेदारी करता था। शाह परिवार भी अधिकांश कार्यक्रमों में शामिल होता था। चूंकि साहित्यिक आयोजनों में उपस्थित कम होती थी। अतः आयोजनों में निरन्तर शामिल होने वाले लोग एक दूसरे के चेहरों से परिचित हो गए थे। फिर कालोनी की किसी गतिविधि के कारण शाह परिवार से परिचय हुआ। उस वक्त यह परिचय नमस्कार तक ही सीमित था।

ज्योत्सना जी 'सेवा' नामक संस्था से जुड़ीं जिसकी इला भट्ट प्रमुख हैं । 'सेवा' गुजरात में काफी सक्रिय संस्था है। 'सेवा' ने भोपाल से हिन्दी पत्रिका 'अनुसूया' का प्रकाशन प्रारंभ किया। जाहिर है कि उसे हमारी ही प्रेस में छपना था सो छपना प्रारंभ हुई। इस समय में साहित्य, संस्कृति, राजनैतिक और सामाजिक विषयों पर बातचीत होती थी बहसें होती थी जिनमें प्रेस पर आने वाले कई अनेक साहित्यकार भी शामिल होते थे। इनमें ज्योत्सना जी का काम समय पर नहीं हुआ तो वे पूरे अधिकार से नाराज भी होती थीं। वर्कर्स के साथ-साथ मुझे और मेरे छोटे भाई पुष्कर को भी डांटती थीं।

ज्योत्सना जी अपनी विविधवर्णी रचनात्मकता, सामाजिकता और पारिवारिकता के बीच गजब का संतुलन बना कर चलती थीं। उनके दो कविता संग्रह 'घर नहीं' और 'अपने आगे-आगे' कहानी संग्रह (चार) चीख के आरपार, खंडहर, 'अंधेरे का इंतजार' और उम्मीद की दूसरी सूरत दो उपन्यास अपने साथ और अ अस्तु का। ज्योत्सना मिलने की सृजनात्मक सक्रियता के दस्तावेज हैं।

'अनुसूया' पत्रिका का नियमित समय पर प्रकाशन जिसमें स्त्री विमर्श के नारों से दूर सचमुच स्त्री प्रश्नों पर विचार-विमर्श था। कामकाजी महिलाओं के श्रम का मूल्यांकन था उन्हें संगठित कर अपने अधिकारों के लिए लड़ने की प्रेरणा थी।

ज्योत्सना मिलन रमेशचन्द्र शाह जैसे दिग्गज की पत्नी थी तो शम्पा और राजुला जैसी होनहार बेटियों की माँ। उनके घर जाना, वहाँ समय बिताना मुझे तो सदा ऐसा लगता है जैसे मैं ज्ञान के किसी अथाह सागर में डुबकी लगाकर लौटा हूँ। ज्योत्सना जी का मातृतुल्य स्नेह उस पर सोने पर सुहागा था। वे एक पत्नी, एक माँ की भूमिका जिम्मेदारी से निबाहती थीं तो मित्रों-परिचितों से वे उनके सुख-दुख में शामिल होकर सामाजिक व्यवहार भी अच्छे से निबाहती थीं। साथ ही अपनी सृजनात्मकता को जारी रखे हुए थीं। अनुसूया का पूरा मैटर खुद तैयार करतीं खुद उसके प्रूफ देख छपवाती और खुद के ही मार्गदर्शन में देश भर में उसके भेजने की व्यवस्था करतीं। वे जो भी काम करतीं पूरी जिम्मेदारी से तो करतीं उसके साथ उस कार्य का सर्वश्रेष्ठ होना भी उनकी जिद हुआ करती। 29 वर्षों से वे नियमित रूप से अनुसूया का प्रकाशन-प्रसारण करती रहीं। इस पत्रिका में प्रकाशित सामग्री की श्रेष्ठता उनकी समझ और दृष्टिकोण का परिचायक है। देश की प्रमुख हस्तियों से उनके पारिवारिक रिश्ते उनकी सामाजिकता का प्रमाण हैं। पहले पहल परिवार की ओर से उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि।उनके अचानक देहावसान पर कुंवरनारायण की काव्य पंक्तियाँ याद आती हैं- **घर रहेंगे/हमीं उनमें रह न पायेंगे/समय होगा/हम अचानक बीत जायेंगे।**

स्मृति : जावेद ज़ैदी

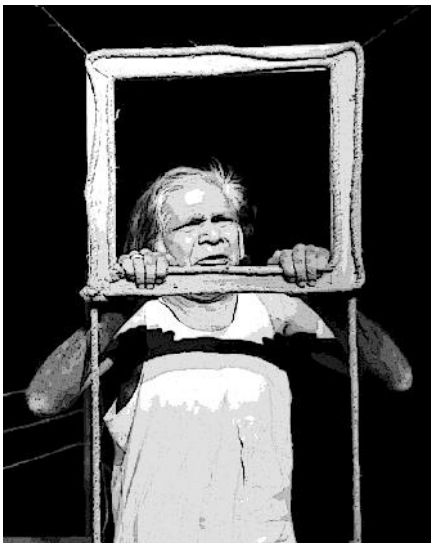

अपनी ज़िद का किरदार

सुनील मिश्र

भोपाल में नाटकों की दुनिया के लोगों और लिखने-पढ़ने वालों को उस दिन सुबह ही यह सूचना दे दी गयी थी कि जावेद भाई का इन्तकाल हो गया है। जावेद भाई याने जावेद ज़ैदी। भारत भवन के रंगमण्डल की स्थापना से लेकर निरन्तर वहाँ का एक अपरिहार्य हिस्सा बने रहने वाले जावेद भाई। लोग उन्हें इसी नाम से बुलाते थे।

जावेद ज़ैदी लम्बे समय से बीमार थे। वे दरअसल कुछ वर्ष पहले अचानक टूट गये, लम्बा समय उन्होंने गहरे अवसाद और अपने ही भीतर कहीं गुम से रह जाने वाले इन्सान का लिया, यह घटना चार वर्ष पहले की है जब उनके भाई की अचानक मृत्यु हो गयी थी। भाई के इस तरह अकस्मात जाने और फिर उनके परिवार को लेकर उनकी चिन्ता ने उनको गहरे सन्नाटे में धकेल दिया। उसके पहले वे एकदम भलेचंगे थे, दो-चार बीमारियाँ उनको रही होंगी मधुमेह जैसी लेकिन उसकी वे परवाह नहीं करते थे। भाई का जाना वे जरूर बर्दाश्त नहीं कर पाये। उनको उस अवसाद से निकालने का काम स्वर्गीय रंगकर्मी अलखनन्दन ने किया था जो उस समय रामेश्वर प्रेम के नाटक चारपायी की तैयारी कर रहे थे। उस नाटक में बुजुर्ग पिता की भूमिका के लिए उन्होंने जावेद भाई को जिद करके तैयार किया था।

भोपाल के रंग वातावरण में जावेद ज़ैदी की उपस्थिति चालीस साल पुरानी तो कम से कम होगी ही। वे शायद 1979 वर्ष में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली में अभिनय की पढ़ाई के लिए गये थे। अभिनेत्री रत्ना पाठक शाह, लोकेन्द्र त्रिवेदी, ललित तिवारी, रवि झाँकल, भार्गव ठक्कर आदि कलाकार उनके साथ ही अपना प्रशिक्षण पूरा करके अपनी-अपनी दुनिया गढ़ने निकले थे। जावेद जैदी भोपाल से नई दिल्ली गये थे और नई दिल्ली से ही भोपाल लौट गये। 1982 में भारत भवन बन रहा था, उसमें सृजन और अभिव्यक्ति के आयाम खुल रहे थे। नाटकों के लिए रंगमण्डल बना, कारन्त जी आये, अलखनन्दन आये और प्रस्तुति व्यवस्थापक के रूप में जावेद भी। सीख-पढ़कर अपने ही शहर, अपने घर लौटना उनका एक बड़ा सकारात्मक पक्ष माना जायेगा। वे अक्सर बताया करते थे कि उनके साथी उनको दिल्ली, मुम्बई बुलाते हैं, प्यार से, मनुहार से और गाली देकर भी लेकिन वे अपने भोपाल में ही भले हैं।

भारत भवन में सक्रिय रंगमण्डल का दौर बड़े उत्साह का था, जो उस दौर का साक्षी है उसके पास किस्से हजार होंगे। देश-विदेश के रंगकर्मी आते थे, कार्यशाला होती थी, नाटक तैयार होते थे, उनका मंचन होता था। भारत भवन की अन्तरंग रंगशाला में रंगमण्डल के नाटकों का मंचन अपने आपमें एक बड़ी घटना है। हालाँकि उस दौर में भारत भवन से बाहर राजधानी में उसका एक प्रतिपक्ष विकसित हो गया था, यद्यपि वह भी इस मायने बुरा नहीं रहा क्योंकि उसके साथ ही शहर में नाटकों को लेकर प्रतिस्पर्धी भाव से ही सही एक बड़ी सक्रियता भी आयी। उत्कृष्टता और श्रेष्ठता का यह दौर भुलाया नहीं जा सकता। दिलचस्प यह था कि जावेद ज़ैदी रंगमण्डल के प्रस्तुति व्यवस्थापक होने के नाते, स्वयं एक रंगकर्मी होने के नाते अपने दायित्वों से तो जुड़े रहते ही थे, बाहर अपने उन मित्रों से भी जूझते थे जो प्रतिस्पर्धी थे, उनसे खूब जिरह किया करते।

रंगमण्डल भारत भवन में रहते हुए जावेद जैदी ने अनेक नाटकों में काम किया। सब तरह की अनुकूलताएँ उपलब्ध कराने से लेकर, विवादों को सुलझाने, शान्त करने, समाधान करने में भी अपने कलाकारों के बीच केन्द्र में वे होते थे, खुद भी हँसते हुए चार बातें सुन लेते थे। आधे अधूरे, चारपायी, महानिर्वाण, दो कश्तियों का सवार, एक इन्सपेक्टर से मुलाकात, फुटबाल, यहूदी की लड़की आदि अनेक नाटकों में उनकी भूमिकाएँ याद आती हैं। उन्होंने बैरी जॉन, रुद्रप्रसाद सेनगुप्त, सुभाष उद्गाता, बृजमोहन शाह, ब.व. कारन्त आदि सभी बड़े रंगकर्मियों के साथ काम किया था, उनका सान्निध्य हासिल किया था। स्वयं उन्होंने अनेक नाटकों का निर्देशन किया जिसमें टोपी शुक्ला, ताम्रपत्र आदि याद आते हैं। भारत भवन जावेद जैदी का दूसरा घर था। रोज सुबह घर से निकलकर वे सीधे भारत भवन आते थे, वहाँ कार्यालय, केण्टीन, परिसर में कलाकारों के साथ बातचीत, बैठक और वहीं से रात को घर। तीसरी कोई जगह उनके मिलने की नहीं थी। उनको ढूँढ़ने वाले यह पता चलने पर कि वे घर से निकल गये हैं, उनको भारत भवन में ही खोजना शुरू करते। इस बड़े कला परिसर में वे कहीं न कहीं बीड़ी पीते, बात करते मिल ही जाते। जावेद भाई अपने बच्चों की मदद से भारत भवन आ जाया करते। वहीं बैठे रहते। आखिरी-आखिरी में वे बड़े भावुक हो जाया करते थे। कई दिन न दीखो तो आदतन गरियाकर ही शिकायत किया करते, दिखते नहीं हो साले और फिर रोने लगते। इधर महीने भर पहले फिर एक झटका उनको ऐसा लगा कि इस बार फिर वे उबर नहीं पाये।

जिस समय वे गहन मूर्च्छा में थे, उसी बीच उनका निर्देशित किया हुआ एक नाटक कमला भारत भवन में मंचित हुआ था। सरकार, शहर और मित्रों ने सम्भव सहयोग भी किया पर इस बार ऊपर वाले ने उनकी उपस्थिति की सीमा मुकर्रर कर दी थी। धोखे से पर बीमारी, उनकी जिजीविषा और जुझारूपन से जीत ही गयी और वे चले गये।

स्मृति : शिव कुमार चवरे

सरलता का शिखर

विनय उपाध्याय

एक सच्चे कर्मयोगी का जीवन अपने समय का वरदायी मंत्र होता है। आत्मस्तुति के रोमांच और उत्कर्ष की आसमानी इच्छाओं से उसका फासला होता है। उसकी अकेली निष्ठा, ज़िद और जद्दोजहद के मायने किसी दिन विरासत की शक़्ल ले लेते हैं। वक़्त की धूल को बुहार कर जब भी आने वाली नस्लें गुजश्ता दौर को याद करती हैं, ये उजले हस्ताक्षर नुमाया होते हैं और ख़ामोश ज़ुबाँ से कहानियाँ बोल पड़ती हैं।

पिछले दिनों हाथ आयी स्मारिका 'स्मृति बिंब' के सफे पलटते हुए एक ऐसी ही नायाब शख़्सियत से मुलाकात हुई। शिवकुमार चवरे। मध्यप्रदेश के निमाड़ अंचल की सांस्कृतिक भूमि खंडवा में चालीस से सत्तर के दशक को अपने रंगकर्म से ऐतिहासिक गरिमा प्रदान करने वाले इस सूत्रधार की कुव्वत और कौशल की अनेक ऐसी मिसालें गिनाई जा सकती हैं जिनसे मुतासिर होकर मन गहरी श्रद्धा से भर जाता है और विस्मय भीतर तक पसर जाता है। अपनी रंग-रूपहली भंगिमाएँ लिए तोलाभर हाड़-मांस का यह मनुष्य खंडवा की रंगभूमि पर कला के कनक की लहलहाती फसल बोने में अगर कामयाब हुआ, तो बिलाशक वह अदम्य इच्छाशक्ति ही थी जो उसके सीने में हमेशा धक-धक करती रही।

शिवकुमार चवरे, जिन्हें घर से लेकर बिरादरी तक 'दादा' का आत्मीय संबोधन मिला, एक विलक्षण कवि, पत्रकार, अभिनेता, नाटककार और निर्देशक थे। रंगमंच उनका पहला शौक और सपना था और अपनी इस फितरत में उन्होंने पूरे शहर को जोड़ लिया था। इस रचनात्मक शख़्सियत को उन्होंने समग्रता में गढ़ा। दिलचस्प यह कि तालीम के नाम पर न तो कभी उन्होंने किसी कला संस्थान में दाखिला लिया, न किसी गुरुकुल की शरण ली और न ही किसी संगठन के दरवाजे खटखटाए। इस जन्मना आत्म प्रशिक्षित कलाकार ने मुसलसल पाँव पसारती सिनेमाई चकाचौंध के बरअक्स हिन्दी रंगमंच के वजूद को अपने आँचल में महफूज रखने के लिए खुद को पूरा झोंक दिया। आहिस्ता लेकिन सधी हुई चाल से उन्होंने एक चिन्गारी को दूर तक और देर तक जलाये रखने की कसौटी स्वीकार की। लाखों के सरकारी अनुदान और सौजन्य से पोषित आज का रंगजगत शायद इस बात पर भरोसा न करे कि एक ही डोरी से नियंत्रित मंच के परदे, वर्टिकल रोलेबल स्क्रीन, साइड विंग्स, फुल लाइट, स्पॉट लाइट, फ्लिकरिंग लाइट, प्रोजेक्टर स्लाइड, हेंगिंग माइक, ईको साउण्ड, पार्श्व संगीत, स्टेज क्रॉफ्ट जैसी कलाकारी घरेलू उपकरणों से की जाती थी और कथावस्तु तथा नाटक की ज़रूरत के मुताबिक इन्हें ईजाद करने या जुटाने का जिम्मा खुद दादा शिवकुमार ही लेते। इसी अंक में इतिहासकार और खंडवा के दादा की सक्रियता के साक्षी रहे शरद पगारे बताते हैं- शिवकुमारजी की रंग प्रतिभा को उभारने में मूर्धन्य रंगकर्मी और मनिर्वा मूवीटोन के संस्थापक, निर्माता निर्देशक, अभिनेता सोहराब मोदी की पारसी थिएट्रिकल कंपनी का योगदान रहा। सिनेमा से जुड़ने से पहले मोदी ने इस कंपनी की स्थापना की थी, यह देशभर में घूम-घूम कर नाटकों का मंचन करती थी। इसी सिलसिले में सोहराब का खंडवा आना भी होता रहा। यही संयोग अंतरंग मैत्री की वजह बना। मोदी से शिवकुमारजी ने नाट्य लेखन, संवाद, निर्देशन, मंच सज्जा, रूप सज्जा, अभिनय आदि पहलुओं की बारीकियाँ सीखीं। ये सबक दादा के रंग परिष्कार में सहायक रहे। उन्होंने अपने आगामी प्रयोगों में इन सीखों का इस्तेमाल भी किया।

ऐसा नहीं कि दादा के हस्तक्षेप के पहले खंडवा के रंगमंच पर सन्नाटा था लेकिन निमाड़ अंचल की अलसाई हिन्दी नाट्य चेतना को आधुनिक कला परिदृश्य में जागृत करने शिवकुमार चवरे ही अगुवा हुए। जानना गैर जरूरी नहीं कि निमाड़ अंचल में आधी शताब्दी के पूर्व रंगमंच की कला रासलीला और रामलीला तक ही सीमित थी। यह क्षेत्र 1881 तक सिंधिया राज्य में था और तब मराठी प्रवचन और हरिकथा का चलन था। हिन्दी का विकास और प्रसार नगण्य था। कभी-कभार रामलीलाएँ हिन्दी में होती थीं। एक अंतराल के बाद 1913 में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी ने 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक लिखा तब अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर खंडवा के कलाकारों ने जबलपुर में इसे मंचित किया था। 1920 में यहाँ नर्मदेश्वर प्रासारिक नाट्य मंडल की स्थापना हुई। इस मंडली ने अपने प्रयासों से महंगे परदे, कपड़े तथा अन्य संसाधन जुटाए। जब इस नाट्य दल का विग्रह हुआ तो 1942 में इसी समूह के कलाकारों ने आर्य सुबोध नाटक मंडली नबायी। इस दौरान आसपास के ग्रामीण इलाकों में भी उत्साह जागा। कई नाटक तैयार हुए। तब स्त्री पात्र भी पुरुष ही हुई करते थे। सारा रंगमंच गैस बत्ती से रौशन होता था।

1945 में खुद शिव दादा ने 'बालिका कला मंदिर' नाम से एक नाट्य संस्था का आगाज़ किया। यह संस्था उस समय अपने नाम के अनुरूप किशोरियों और तरूणियों की रंगमंच पर आमद और कलात्मक आत्मविश्वास के नए क्षितिज का प्रतीक बनीं। विशेषकर मध्यवर्गीय समाज की संकीर्ण हदें टूटीं और हिन्दी रंगमंच पर खंडवा साहस और प्रगतिशीलता की एक उजली इबारत लिखने आगे आया। खंडवा की नर्मदीय धर्मशाला के मंच पर नाटकों के मंचन का अबाध सिलसिला शुरू हुआ। इस बीच पुरुषों की हमजोली भी हुई। सारा शहर इस हिलोर

के आसपास सिमटने लगा। इस उत्साह की आगोश में आकर अनेक अनगढ़ कलाकारों ने खुद को तराशा। 'स्मृति बिंब' के पन्नों पर कलाकारों और तब के साक्षी रहे दर्शकों की यादें और तस्वीरें भीतर तक भिगो देती हैं।

ये सच है कि जब तक कोई हमारे बीच रहता है, अनुभव की आवृत्ति छोटी होती है, उसमें स्मृतियों का बनना-बिगड़ना जारी रहता है लेकिन जैसे ही वह व्यक्ति अदृश्य हो जाता है, तब ये स्मृतियाँ बार-बार उभरती हैं। अपना घेरा बड़ा करती हैं और मन के किसी कोने में स्थायी बसेरा बना लेती हैं। शिवकुमार चवरे की प्रतिस्मृति भी आसमान से ढलती धूप के बीच जमीन पर उभरी लंबी परछाई है जिसकी नाप शब्दों में अधूरी है। यह अधूरी तलाश ही बार-बार करीब जाने का सबब बनती है। दादा की स्मृतियों को बटोरने का सिलसिला उनके बेटे अक्षय चवरे ने इस मंशा से शुरू किया कि धूसर पड़ती जा रही याददाश्त के कोने-कातरों में दबे अपने कलाकारों पिता के सच की शिनाख़्त हो। वो सच, जो आज भी खंडवा के बेशुमार लोगों के बीच किस्से-कहानियों की शक़्ल में जिंदा हैं। और इसी तथ्य की ताईद करती है 'स्मृति बिंब'।

बिखर गए पहलुओं को बटोरना आसान नहीं, लेकिन 'पितृदेवोभव' की सनातनता का सम्मान करते हुए अक्षय चवरे ने काफी कुछ हासिल किया। संस्मरणों की हरी-भरी दूब पर टहलते हुए आपकी मुलाकात एक नए शिवकुमार से हो सकती है। अनेक पोशीदा पहलू हमारे हाथ लगते हैं। परिचय का नया प्रकाश फूटता है और एक अदना शख़्सियत, अजीम किरदार की तरह हमें अपनी बाहों में भरने लगता है। करीब डेढ़ सौ पृष्ठों में फैली शिवकुमार चवरे की गाथा का विस्तार अभी भी अधूरा है और बहुत कुछ अनपहचाना रह गया है, इस कसक के साथ उनके बेटे और 'स्मृति बिंब' के सहयोगी निमाड़ी भाषाविद् मणिमोहन चवरे संवाद के नए ओर छोर नाप रहे हैं। शिव कुमारजी के लिखे नाटकों का संग्रह पुस्तकाकार प्रकाशित हो, उनके नाटकों का मंचन हो, उनकी रंगसैली पर विमर्श हो यही दस्तावेजी पहल हो सकती है। खंडवा में एक बड़े नाट्य समारोह का प्रकल्प गढ़ा जा सकता है।

रेखांकित करने की बात यह है कि शिवकुमारजी ने खंडवा में रंगकर्म की जो दुनिया अपने समय में रची आज इस शहर में उसकी आँच कितनी बाकी है? क्या दिन-रात नाटकों के लिए खुद को खपा देने वाले इस रंग पुरुष जैसा उत्सर्ग, समावेशी संस्कार और सृजन का ताप बाद की पीढ़ियों का आदर्श बन सका? दादा के परिजन, कलाकार और खंडवा के सृजनधर्मी समाज को अपने पूर्वज की यादों को महफ़ूज़ रखने के लिए कंजूस फिक्रों से बाहर निकलकर बड़ी परियोजना पर गंभीरता से काम करना होगा। शिवकुमारजी का व्यक्तित्व, सृजन और उपलब्धियाँ सिर्फ उनके खानदान के गौरव तक सिमटी नहीं है, उन्होंने पूरे देश में निमाड़ के आधुनिक रंग आन्दोलन को पहचान दी। इस अभियान में हर वर्ग शरीक था। लिहाजा आज का खंडवा भी अपनी फर्ज़ अदायगी के लिए आगे आये।

बचा ली जायें, तो बच जाती हैं स्मृतियाँ; वरना एक दिन उनका हराभरापन कुम्हलाने लगता है। खंडवा की जमीन में दादा की जड़ें बहुत गहरे उतरी हैं, बस उन्हें थोड़ी-सी नमी चाहिए।

स्मृति : शैलेन्द्र

शून्य में विलीन हो गई संभावना

सुनील मिश्र

प्रतिभाशाली शिल्पकार-चित्रकार शैलेन्द्र कुमार का असामयिक निधन उस बड़ी सम्भावना पर तुषारापात है जिसमें उत्साह जितना था उतनी ही ज्यादा क्षमताएँ, वह भी बहुत कम दिखायी देने वाली मानवीय विनम्रता के साथ।

अभी पिछली 24 अप्रैल को उनके शिल्पों और रेखांकनों की एक प्रदर्शनी भारत भवन में आयोजित हुई थी जो 11 मई तक चली। शुभारम्भ के दिन शैलेन्द्र जानलेवा बीमारियों की अन्तिम अवस्थाओं के देह में लिए लेकिन उसके विरुद्ध उतनी ही जिजीविषा के साथ वहाँ आये थे। परिवार और मित्र उन्हें व्हील चेयर पर प्रदर्शनी स्थल पर लाये थे जहाँ वे अपनी और अपनों की दुनिया में देर तक रहे, मुस्कुराये, बातें करते रहे। उनके चारों ओर उनकी सर्जना थी विभिन्नताओं में। लग रहा था परस्पर कला और सृजन एक-दूसरे के सान्निध्य से ऊर्जा दे-ले रहे थे।

उनके नहीं रहने की सूचना ने जैसे एक अन्देशे के यथार्थ में बदल जाने की अन्ततः अपरिहार्यता को साबित कर दिया। यकृत कैंसर जो चौथी अवस्था में पहचाना गया, आखिरकार एक मिलनसार, सहज, देशज और अपनेपन से कला में सपने सृजित करने वाले बयालीस साल के युवा कलाकार को हम सबके बीच से ले गया। शैलेन्द्र इस परिधि में तेजी से काम करते दिखायी देते थे। बीमारी तो आठ महीने पहले अपनी रौ में आयी अन्यथा उनको बहुत श्रम और पुरुषार्थ करते देखने के कितने ही दृश्य इस वक्त याद आते हैं, खासतौर

पर भोपाल में जनजातीय संग्रहालय की पूर्णतः स्थापना की पृष्ठभूमि में परिकल्पनाकार कलाकार हरचन्दन सिंह भट्टी के साथ काम करने वाले कलाकारों में उनका प्रमुख होना, जिम्मेदारियाँ लेना, काम करवाने से लेकर से लेकर खुद काम करने लगना, सब कुछ तमाम करते हुए संवाद बनाये रखना, ऐसा नहीं लगता था कि जरा भी फ़ुरसत में नहीं है शैलेन्द्र। अनौपचारिकता, चम्पारन में जन्मे इस कलाकार की खूबी भी थी।

शैलेन्द्र मुजफ्फरपुर से स्नातक होकर खैरागढ़ आ गये थे, वहीं से शिल्पकला में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। बाद में भोपाल आ गये और भारत भवन की सिरेमिक कार्यशाला में काम करने लगे। उनकी कलाकृतियों की अनेक प्रदर्शनियाँ देश भर में आयोजित हुईं, एकल और समूह में भी। शहरों में पुणे, भोपाल, मुम्बई, खजुराहो, नई दिल्ली, इन्दौर, भिलाई, पटना शामिल हैं। भुवनेश्वर, चण्डीगढ़, भोपाल, खजुराहो, कान्हा किसली, ग्वालियर, उदयपुर और ग्वालियर में आयोजित कला शिविरों में भी शैलेन्द्र ने रहकर काम किया। शैलेन्द्र की कलाकृतियाँ मुजफ्फरपुर, भिलाई, नई दिल्ली, खैरागढ़, भारत भवन भोपाल, मुम्बई, उदयपुर, ग्वालियर, भुवनेश्व और मॉरीशस की कला दीर्घाओं में संग्रहीत हैं।

तनुश्री बिस्वास ने शैलेन्द्र के काम पर एक जगह लिखते हुए उसको अंग्रेजी में शीर्षक दिया है, एण्डलेस बिग्निंग्स...। शैलेन्द्र की एक कलाकृति स्याह काले कैनवास पर सिरजी गयी है, देखकर तनुश्री का प्रश्न रंग को लेकर था जिस पर उनका कहना था कि शायद व्याख्या, अभिव्यक्ति को बाधित कर देती है सदा के लिए। प्रश्न का उत्तर मिल जाने से संवाद खत्म हो जाता है। आगे गुंजाइशें नहीं रह जातीं। पूर्णता की स्थितियाँ बनी रहना, प्राप्त हो जाने की अपेक्षा ज्यादा सृजनात्मक हैं। शैलेन्द्र में अपने जन्म, परिवेश, भूमि के साथ-साथ सृजनयात्रा के तमाम अनुभवों, अपनी जमीन छोड़कर भोपाल आ बसने से उपजी, खुद अपने भीतर चलने वाली नितान्त एकाकीयता को कभी-कभी संकेतों में व्यक्त की कल्पनाशील क्षमताएँ थीं।

इधर कुछ समय से एक घातक बीमारी ने उनको जिस तरह से भीतर ही भीतर तोड़ना शुरू किया, उसके प्रभाव उनके चेहरे पर दिखायी देते थे। उनके सभी शुभचिन्तक, मित्र, अपने, परिजन जब उनके साथ होते, जब उनके पास होते, देर तक उनकी ओर देख पाने में घबराहट ही महसूस करते थे क्योंकि यही वो स्थितियाँ थीं जब चारों तरफ अपनों, स्नेहियों का असहाय समूह था जो धीरे-धीरे शैलेन्द्र को उनके भीतर घटते और धीमा होते देख रहा था। किसी को यह जरा भी बर्दाश्त नहीं था, सभी के दबे-छुपे, ओट से या उनसे मिलकर बाहर आने के बाद वह आने वाले आँसू अपनी क्षमता भर कहते थे। आखिरकार शैलेन्द्र चले गए।

सर्जना अमर है और सर्जना में शैलेन्द्र भी...

मन में संतूर, होंठों पर गान

विवेक मृदुल

वे इन दिनों काफी कमज़ोर हो गए हैं। बिना सहारे के चल-फिर नहीं सकते। आँखों की रौशनी धुंधला गई है। स्वर भी कुछ काँपता-थरथराता लगता है। उन्हें पहली बार इस हाल में देखने वाला शायद ही यकीन करें कि वो संतूर के वरिष्ठ साधक और 'मधुकली वृंद' जैसे बेजोड़ सांगीतिक दल के निदेशक पं. ओमप्रकाश चौरसिया से मुखातिब हैं। पर ये सच है। थोड़ा कड़वा सच। देश-विदेश के मानी-मंचों पर अपने संतूर वादन की धाक जमाने वाले और हिन्दी की गेय-अगेय कालजयी रचनाओं को 'वृंदगान' की अनूठी शैली में ढालकर नया रूप देने वाले हम सबके संगीत गुरु 'भाईजी' अब हस्बेमामूल भोपाल के आकृति गार्डन स्थित अपने कलात्मक निवास में ही सिमटने को विवश हैं। उन्हें मुद्दतों बाद देखा तो न जाने कहाँ से बेगम अख़्तर की गायी गजल दिमाग में कौंध उठी- ''कुछ तो दुनिया की इनायात ने दिल तोड़ दिया/और कुछ तंगिए हालात ने दिल तोड़ दिया।''

यूँ बात इतनी पुरानी भी नहीं जब पं. ओमप्रकाश चौरसिया का नाम कलानुरागी भोपाल शहर में बेहद एहतराम से लिया जाता था। भाई जी को संतूर वादन और वृंदगान दोनों ही विधाओं में नवोन्मेषी प्रयोग करने वाले सर्जक के रूप में देखने, जानने और मानने वाले कद्रदानों की लंबी कतार थी। भारत भवन या रवीन्द्र भवन की कोई बड़ी संगीत-नृत्य सभा शायद ही उनके बगैर सजती हो। ...मगर ये उन दिनों का ज़िक्र है जब भाई जी संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन पर बड़े प्रशासनिक ओहदे पर थे। वे उन दिनों उस्ताद अलाउद्दीन खाँ संगीत अकादमी के संचालक थे और जाहिरा तौर पर संस्कृति विभाग के तमाम शास्त्रीय संगीत-नृत्य समारोहों के सूत्र चौरसियाजी के हाथों में रहते। ये भाईजी की उत्कृष्ट कला दृष्टि और कल्पानाशीलता का ही कमाल था कि उनके 29 वर्षों के प्रशासकीय कार्यकाल के दौरान, निरे सरकारी आयोजनों में भी कला की श्रेष्ठतम प्रस्तुतियाँ हुईं और मध्यप्रदेश को कला जगत में विशेष स्थान मिला। उस दौरान 250 से अधिक सरकारी कार्यक्रमों का उन्होंने संचालन भी किया है।

पं. ओमप्रकाश चौरसिया

दरअसल, कलाकार के अंदर की छुपी हुई प्रतिभा को पकड़ने का हुनर भाईजी को ईश्वर प्रदत्त है। तभी तो चाहे नर्तक हो, वायलिन वादक हो, तबला वादक या युवा गायक, भाईजी ने जिसके भीतर प्रतिभा का अंश देखा, उसे आगे बढ़ाया। मार्गदर्शन किया। आज के कितने ही सुपरिचित कलाकार अक्सर भाईजी के तुलसी

नगर वाले सरकारी क्वार्टर में हाजिरी लगाया करते थे। कितनों को तो एक अदद सरकारी समारोह में हिस्से की गरज से के लिए भाईजी से चिचौरी करते हमने खुद देखा है। अक्सर भाईजी इससे झल्ला उठते थे। सिफारिशी प्रवृत्ति उन्हें कभी भी पसंद नहीं थी। लेकिन कईयों को मुँह पर कड़ी फटकार लगाने के बावजूद भाईजी का कला-प्रिय मन उनसे कितने ही छोटे-बड़े कलाकारों को प्रोग्राम दिलाने की दौड़-धूप करवा ही डालता था। ये दौर भाईजी के सेवानिवृत्त होने के साथ ही जाता रहा। उगते सूरज को नमस्कार करने और अर्घ्य देने वाले व्यवहार - कुशल कला समाज ने पं. ओमप्रकाश चौरसिया को इतिहास के पन्नों में डाल दिया और कला जगत सुविधाजनक रूप से उन्हें भूलने लगा।

भले ही ये निष्ठुर कला-समाज 'भाईजी' को विस्मृति के कूपों में डाल दे, मगर जब भी कविता के शब्द-सौंदर्य को सुरों की चाशनी से और भी मधुमय बनाने वाले प्रदेश के संगीत सर्जकों का जिक्र होगा, पं. ओमप्रकाश चौरसिया का नाम लिए बिना इस चर्चा को समाप्त नहीं किया जा सकेगा।

पर भाईजी को इसका जरा भी मलाल नहीं है। वे कहते हैं कि लगभग तीन दशक तक सरकारी नौकरी करते हुए भी मैं संतूर वादन कर सका तथा 'वृंदगान' को भी बंधी-बंधाई चौखट से बाहर ला सका, ये मेरे लिए बड़ी उपलब्धि है। हाँ, यह जरूर है कि मैं चाहकर भी संतूर का उतना रियाज नहीं कर सका, जो अपेक्षित था। लेकिन ये साज मेरे हृदय में धड़कता है और जीवन भर धड़कता रहेगा। यादों में खो जाते हैं भाईजी। फिर कुछ क्षण चुप्पी के बाद बताते हैं- यूरोप और इंग्लैंड के दस देशों में संतूर के लगभग 40 प्रोग्राम मैंने दिए हैं। नेपाल, बांग्लादेश और श्रीलंका भी गया हूँ और वहाँ करीब 12 प्रोग्राम हुए हैं। इसके अलावा देश के लगभग सभी आकाशवाणी केन्द्रों में मेरे संतूर वादन की रिकार्डिंग हुई है। यही नहीं पूर्वोत्तर राज्यों को छोड़कर प्रायः सभी राज्यों ने संतूर वादन के लिए मुझे आमंत्रित किया है।

भाईजी, अचानक अपने शयनकक्ष की दीवार पर टंगे अपने संगीत गुरु पं. लालमणि मिश्र के आकर्षक चित्र की ओर रुख करने लगे। गुरु के साथ बिताए क्षणों की याद से भाईजी का मुख आरक्त हो उठा था। भाईजी! आप सागर से बनारस शास्त्रीय गायक बनने गए थे। तो फिर संतूर वादक बनने का निर्णय कैसे लिया? मेरे मन में घुमड़ता प्रश्न आखिर जुबान पर आ ही गया। भाईजी बताने लगे- बनारस में संगीत प्रशिक्षण के शुरूआती दिनों में ही मुझे पेट की घातक बीमारी हो गई थी। चिकित्सकों ने मुझे गाना बंद करने की सलाह दी। तब मेरी आँखों के आगे जो अंधेरा छाया था, वो आज आँखें खराब होने के कारण छाये अंधेरे से भी भयंकर था। ...हँस पड़ते हैं भाईजी।

उनका स्वाभाविक 'सेंस ऑफ ह्यूमर' बरकरार था। लेकिन बनारस के मेरे गुरुजनों ने मुझे काफी हौसला दिया कि गायक नहीं बन सके, मगर संगीत तो सीख सकते हो। कम से कम आजीविका तो चल ही जाएगी। वही किया। मेरी रुचि समूहगान में प्रारंभ से थी। मैंने कॉलेज जीवन में समूह गान के अनेक कार्यक्रम दिए। 'वृंदगान' की ओर मेरा झुकाव यहीं से हुआ। फिर बी. म्यूज. (तबला) और एम. म्यूज़ (गायन) की उपाधियाँ भी हासिल कीं। कुछ साल ऐसे ही चलता रहा। वर्ष 1974 में गुरुजी (पं. लालमणि मिश्र) ने पहली बार मेरे सामने संतूर का नाम लिया। वे बोले कि यह साज़ पारंपरिक वाद्यों से अलग है और मैं इसके जरिए अच्छी शोहरत हासिल कर सकता हूँ। 1975 में मैंने बनारस में संतूर का पहला प्रोग्राम दिया था। उसी साल मुंबई के 'सुर सिंगार संसद' के 'कल के कलाकार' शीर्षक कार्यक्रम में भी बजाया। तब से अब तक ये सिलसिला चल ही रहा है। लेकिन इधर कुछ सालों से मैंने बजाना

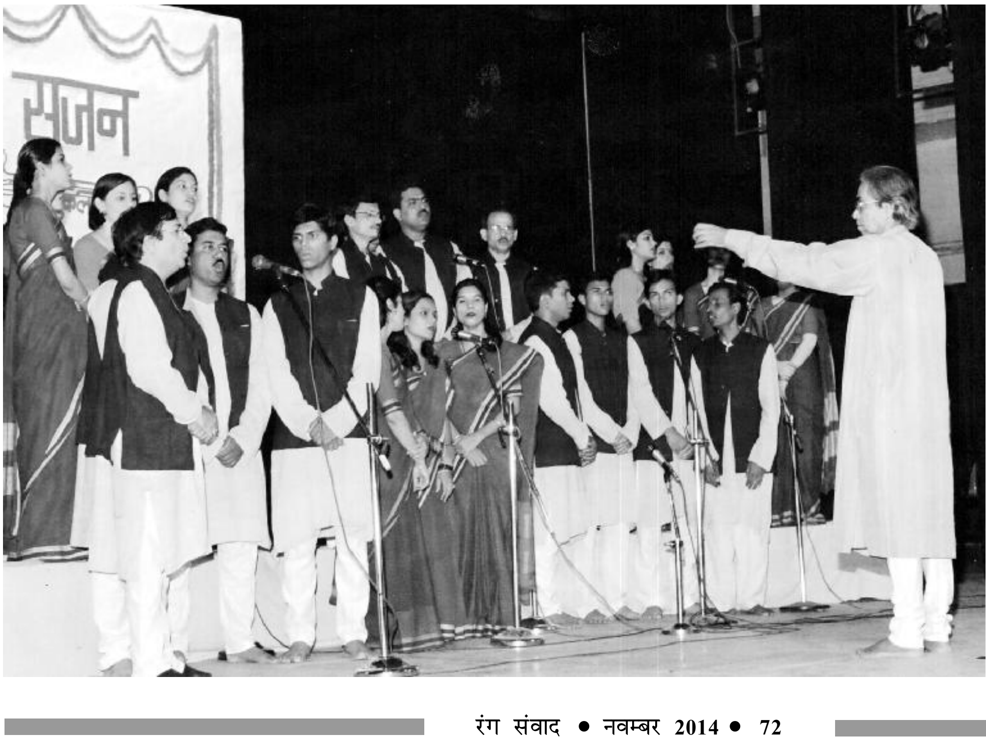

वृंदगान को समर्पित संस्था 'मधुकली' के कलाकार पं. चौरसिया के निर्देशन में हिन्दी कविताओं की समवेत प्रस्तुति देते हुए।

बंद कर दिया है। कारण एक तो रियाज नहीं हो पाता, दूसरा शरीर और आँखों की कमजोरी के कारण प्रोग्रामों में शिरकत करना मेरे लिए बड़ी चुनौती है। थोड़े खिन्न स्वर में भाईजी कहते हैं।

लेकिन परिस्थिति से समझौता करने वालों में नहीं हैं भाईजी। शास्त्रीय संगीत को समर्पित उनकी निजी संस्था मधुकली के 47 प्रोग्राम अब तक देश भर में हो चुके हैं। अब 48वाँ समारोह इसी साल होगा। पूरे उत्साह से भाईजी बताने लगते हैं- 'मधुकली' संस्था का 50वाँ आयोजन हम दिसंबर 2016 में करेंगे, जिसमें सोलह वर्ष की 9 कन्याओं की कला 'षोड़षी' नाम से प्रस्तुत की जाएगी। 'मधुकली वृंद' के युवा व वरिष्ठ कलाकारों को लेकर भी भाईजी जल्दी ही अपनी महत्वपूर्ण रचनाओं को बड़े मंच से प्रस्तुत करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि केदारनाथ सिंह जी की एक रचना- 'जैसे चीटियाँ लौटती हैं बिलों में' का गायन टीवी चैनल पर ठीक उस समय हो, जबकि केदारनाथजी राष्ट्रपतिजी के हाथों 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' ग्रहण कर रहे हों।

...भाईजी को बताता हूँ कि हम 'मधुकली वृंद' के पूर्व गायक पुनः एक बड़ा 'वृंदगान' कार्यक्रम करने के लिए प्रयासरत हैं तो भाईजी का चेहरा फिर दमकने लगता है। करो- जरूर करो और तुम, पुनीत वर्मा, रीना सिन्हा, विनय उपाध्याय, संदीपा पारे... वो नाम गिनाने लगते हैं और एकाएक मेरा एक घंटे पहले का शंकित-द्रवित मन बड़ी-सी आश्वस्ति पा जाता है। वे अपनी हमसफर संध्या चौरसिया और बेटी देवना का ज़िक्र भी करते हैं जिनके भीतर 'मधुकली' की सांसें जिंदा रखने का जज़्बा है। तन से क्षीण हैं तो क्या, भाईजी भीतर से मजबूत हैं। वृंद-गीतों की तानें यदि हमारे गले में रची बसी हैं तो उसे होठों पर लाने की आस भाईजी के इरादों में हैं।

भले ही ये निष्ठुर कला-समाज 'भाईजी' को विस्मृति के कूपों में डाल दे, मगर जब भी कविता के शब्द-सौंदर्य को सुरों की चाशनी से और भी मधुमय बनाने वाले प्रदेश के संगीत सर्जकों का जिक्र होगा, पं. ओमप्रकाश चौरसिया का नाम लिए बिना इस चर्चा को समाप्त नहीं किया जा सकेगा। मैं भाईजी से आत्मीय विदा लेकर बाहर आया तो भाईजी द्वारा स्वरबद्ध अशोक वाजपेयी की कविता की ये पंक्तियाँ मुझे गुनगुनाने को उकसा रही थीं- ''शायद कभी किसी सपने की दरार में / किसी क्षण भर की याद में / किसी शब्द की अनसुनी अंतर्ध्वनि में / हमारे होने की हल्की सी छाप बची होगी...''

एक शहर से दूसरे शहर का सफर जीवन के अनुभव दे जाता है। कलाकार के जीवन में सफर का दौर तो चलता रहता है। हमारे जीवन में सफर का दौर तो चलता रहता है। हमारे जीवन में एक सफर कला के जरिये शहर-दर-शहर का होता है, जबकि दूसरा सफर मानस से आत्मा का होता है। जो एक उम्र में बोध के साथ शुरू होता है और अनंत समय तक, यानी जब तब हमारी सांसें चलती हैं यह यात्रा चलती रहती है।

मेरा बचपन कोलकाता से लगभग 50-55 किलोमीटर दूर एक छोटे से शहर श्याम नगर में बीता है। श्याम नगर के आसपास के शहर-चंदन नगर पिताजी के साथ बस या ट्रेन से आते-जाते थे। उस दौरान चंदन नगर से कहीं दूसरे शहर जाना मेरे लिए कोलकाता, मुंबई या पुणे जाने जैसा मेरे मन में रोमांच पैदा कर देता था। जाने से पहले ड्रेस की तैयारी करना। क्या पहनकर जाऊँगा? वगैरह-वगैरह। मुझे याद आता है, तब मैं नौ साल का था। मैं अक्सर म्यूजिक कंपीटिशन में भाग लेने जाया करता था। एक बार कहीं से किसी कंपीटिन से जीतकर लौट रहा था। मेरे हाथ में कई ट्रॉफी, कप और शील्ड थे, पिताजी के बारे में, संगीत के बारे में पूछता रहा। तब उसके प्रेम को समझ नहीं पाया था। ाज महसूस होता है कि वह उस इनसान का कला के प्रति सम्मान और प्रेम का भाव था, जिसने मेरे मन पर भी अपने भाव की तस्वीर उकेरवा दी। मुझे लगता है कि सफर एक अनुभव है, जीवन का। अच्छे संगीत सुनने से आपका तन, मन और आत्मा अच्छे संस्कार को पाता है। परिवार में इसकी नींव पेरेंट्स ही डालते हैं और इसकी जिम्मेदारी भी मेरे पेरेंट्स की ही होती है। मेरी बेटी कौशिकी जब छोटी थी, मैं बहुत सावधान रहता था। उस तालीम देने, उसके अंदर संगीत के प्रति लगाव पैदा करने को और उसे अच्छे संगीत को सुनने का तरीका सिखाने की कोशिश करता था। वह भी एक सफर ही था। मेरे सफर में एक खास मोड़ तब आया जब कौशिकी बिल्कुल अपना करियर शुरू करने की दहलीज पर खड़ी थी। कि उसे कब कहाँ और कैसे मौका मिले? उस समय वह क्या गाए? यह भी मेरी यात्रा का महत्वपूर्ण पड़ा था।

सफर एक अनुभव

गायक पंडित अजय चक्रवर्ती कहते हैं-

एक कलाकार के रूप में मेरी पहली यात्रा बनारस की थी। मैं अपने पिताजी और पत्नी के साथ गया था। तब कौशिकी सिर्फ छह महीने की थी। पंडित रविशंकर अपनी संस्था 'रिम्पा' की ओर से बहुत बड़ा फेस्टिवल करते थे। उसी में गया था। बहुत अच्छा अनुभव रहा था। इसके बाद, यादगार यात्रा मेरी पहली पाकिस्तान का दौरा रही। सन् 1984 के अक्तूबर की बात है। वहाँ के हेरॉल्ट पब्लिकेशन्स के हारून परिवार ने मुझे वहाँ आमंत्रित किया था। उस दस दिन की यात्रा में मेरे सात रोज प्रोग्राम हुए। रोज रात नौ बजे प्रोग्राम शुरू होता और सुबह सात बजे तक लोग सुनते रहते और मैं गाता रहता। मुझे सुनने के लिए गजल गायक गुलाम अली, शायर फैज अहमद फैज, उस्ताद बड़े गुलाम अली साहब के कैसेट्स पाँच वॉल्यूम में निकाले गए थे। वे भी काफी लोकप्रिय हुए थे। हालांकि, जब मैं पाकिस्तान जाने के लिए फ्लाइट में बैठा था, तब मन में बहुत

ऊहापोह की स्थिति थी। पर वहाँ जाने के बाद और इतना प्यार और इज्जत मिली कि सारे शिकवे-गिले दूर हो गए।

दरअसल, प्रोफेशनल आर्टिस्ट बनने के बाद यात्रा जीवन का एक हिस्सा बन जाती है। फिर, कलाकार के लिए संभव नहीं हो पाता है कि उसे खाली समय मिले और वह यों घर पर बिताए। हमारी ज्यादातर यात्रा परफॉर्मेंसों से जुड़ी होती हैं। कार्यक्रमों के सिलसिले में जिस शहर में अच्छे श्रोता मिलते हैं, वह हमारे दिल को छूता है। संगीत के प्रति झुकाव, श्रद्धा, प्रेम, विश्वास का महत्व मेरी जिंदगी में बहुत ज्यादा है। शास्त्रीय संगीत सांसों से बनी कला है। जब तक हमारी सांसें हैं, तब तक संगीत है। कलाकार के सफर में सफरिंग तो है ही।

मैं पिछले महीने गुजरात, अहमदाबाद, सोमनाथ, द्वारका वगैरह परिवार के साथ घूमकर लौटा हूँ. मैं प्रोग्राम के सिलसिले में तो घूमता रहता हूँ। इसी बहाने तीर्थस्थलों में भी जाना होता है। पर मैं कभी स्पेशल तीर्थयात्रा पर नहीं निकला। इस मामले में तो मुझे संत कबीरदास का वह भजन याद आता है 'मोको कहाँ ढूंढो रे बंदे'। सबसे बड़ा भगवान तो हमारे और आपके अंदर विराजमान है। हम उन्हें सम्मान दें, प्यार दें, इज्जत दें वही सब कुछ है।

मुझे गोवा, त्रिवेंद्रम, अकोला, सतारा, नासिक, जलगांव, कोल्हापुर जाना बहुत पसंद है। क्योंकि, यहाँ कला और कलाकारों को लोग बहुत तबज्जो देते हैं। वे संगीत को बहुत प्रेम से सुनते हैं। प्राकृतिक सौंदर्य के नजरिए से गोवा, कोचिन, कोट्टायम, कोटक्कल बहुत पसंद है। वहाँ की नेचुरल ब्यूटी स्वर्गिक सुख देने वाली है। वैसे भी हमारा संगीत प्रकृति के बहुत करीब है, या यों कहें कि प्रकृति से जुड़ा हुआ है या प्रकृति से प्रेरित है। पेड़, पहाड़, समुद्र, झरना, चिड़िया, तितली, भौंरे सब कहीं-न-कहीं संगीत की झंकार को पैदा करते हैं। यह प्रकृति ही हम कलाकारों को परफॉर्मेंस करने के लिए प्रेरित करती है। मुझे गोवा शहर का सौंदर्य बहुत पसंद है। गोवा के आसपास के छोटे-छोटे शहर, जैसे- मरगांव, चंदोरगांव, चंदोर, सिरौलिम में सुनने वाले बहुत अच्छे हैं। सुनने वाले अच्छे होते हैं और आसपास के वातावरण का हम भी रस लेते हैं। वैसे तो कोलकाता के पास ही पुरी का समुद्री तट है, पर वहाँ शास्त्रीय संगीत सुनने वाले वैसे नहीं हैं, जैसे गोवा के लोग हैं। खासतौर पर, गोवा के लोगों की सादगी मुझे बहुत पसंद है और वह मुझे बहुत आकर्षित करती है।

गोवा में फिश की वेरायिटी बहुत ज्यादा मिलती है। कोलकाता भी इस मामले में रिच है। लेकिन, गोवा में फिश के प्रीपरेशन के लिए नारियल तेल और बंगाल की अपेक्षा अलग तरह का है। गोवा की फिश फ्राई, पंफ्रेड और आइरिश फिश मुझे खाना अच्छा लगता है।

प्रस्तुति : अरुण

कला प्रवास

मंजूषा गांगुली

मैं बहुत भाग्यशाली हूँ कि अंतर्राष्ट्रीय कला शिविर के लिये हाल ही में भारत-चीन सांस्कृतिक आदान प्रदान कार्यक्रम के तहत चित्रण कार्यशाला में भारत का प्रतिनिधित्व करने का अवसर मुझे मिला। भारतीय संस्कृति मंत्रालय के ललितकला अकादेमी, नई दिल्ली के सौजन्य से मुझे इस महान कला-यात्रा के लिये चार अन्य चित्रकारों के साथ चुना।

इस आयोजन का हर पल, मेरे लिये अवर्णनीय सौगात की तरह रहा। चीन के बारे में पहले भी पढ़ रखा था और चित्रकला की बरसों से प्राध्यापक हूँ, सो चीनी चित्रकला के इतिहास को पढ़ा भी रही हूँ। लेकिन चीनी दृश्य-चित्रण की खूबियाँ जानने के लिये मैं उसी दृश्य का साक्षात हिस्सा बन जाऊँगी, यह सपने में भी नहीं सोचा था। जून की असहनीय गर्मी में इस आमंत्रण ने सुखद बौछारों का अहसास कराया।

चीन के संस्कृति मंत्रालय का एक संयोजक दल हमारे लिये वहाँ की खुशगवार आलीशान मेहमान नवाजी के साथ हर पल प्रस्तुत रहा। इस दल के प्रमुख थे 'श्री रिवर जियाँग'। उनके पहले से ही तय कार्यक्रमों के तहत हमें हर दिन कुछ न कुछ सुखद भ्रमण के अवसर मिले। जिसमें सबसे पहले दिन हम पाँचों कलाकारों को बीजिंग के रंगों की दुकान में रंग सामग्री खरीदने के लिये ले जाया गया। वहाँ हमने चीनी जल रंग, ग्वांश रंग, चीनी ब्रश, स्केच बुक्स और जो भी अच्छा लगा लिया। जिसका हमें कोई भी मूल्य चुकाना नहीं था। उसी

चीन में सोलह दिन

चित्रों की प्रदर्शनी विशाल 'बुकुई कलादीर्घा' में आयोजित की गई। यह गैलरी वहाँ के प्रसिद्ध समकालीन चित्रकार साँग्जुआँग बोकुई की व्यक्तिगत कला दीर्घा है। इस आर्ट विलेज में 10 हजार चित्रकार रहते हैं जिनमें 90 प्र.श. चित्रकारों की अपनी-अपनी 4-5 मंजिल वाली सम्पन्न कला दीर्घाएँ हैं। जहाँ वे स्वयं रहते भी हैं और कलाकर्म भी करते हैं साथ ही इन गैलरीज में प्रदर्शनियाँ भी होती हैं।

शाम हमें बीजिंग शहर की सांस्कृतिक सड़कों की सरसरी विजिट कराई गई। तीसरे दिन हमें बीजिंग शहर का प्रसिद्ध 'टाइएनमेन स्क्वेयर' और 'फॉरबिडन सिटी' के महत्वपूर्ण आर्किटेक्च का अवलोकन कराया गया। ये दोनों स्थल पर्यटकों से भरपूर स्थल थे। जहाँ हमें वहाँ के विशिष्ट भवनों और प्राचीन रंगीन काष्ठ की कलाकारी से सज्जित खूबसूरत पारम्परिक भवनों का वैभव देखने को मिला। बहुत बड़े हिस्से को घेरते तालाबों के किनारे वृक्षों की छाँव में बने लम्बे-लम्बे रास्तों पर बहुत बड़ी संख्या में पर्यटक उस परिसर का आनन्द ले रहे थे।

सबसे सुखद पल तो तब आया जब हम चीन की महान दीवार को देख रहे थे। जिसके लिये इतनी दूर से हम आये थे। वाकई चीन की इस अद्भुत विश्व धरोहर को छूकर आना मेरा अपना सौभाग्य था। मिंग राजवंश ने चौथी शताब्दी ईसा. पूर्व से 18वीं शताब्दी के मध्य दस राजवंशों के सफल राज्यकालों में इसे ईंटों से बनाया गया था। जो पहाड़ों की चोटियों से होती हुई ढलानों के रास्ते जाते हुए नजर आती है। जिसे नगर सुरक्षा के लिये बनाया गया और बेकन टॉवर्स (बुर्ज) के साथ जोड़ा गया है। हमें हमारे दल प्रमुख ने इस दीवार को दिखाने के लिये एक गाँव के रास्ते से पैदल ले जाने का कलात्मक जरिया दिया। जिसे हमने काफी लम्बे समय तक चलकर दूर दिख रही दस दीवार के तलहटी के घुमावदार रास्तों से पार किया। बीच-बीच में खड़े होकर अपनी स्केच बुक पर रेखांकन भी किये। कुल मिलाकर काफी मशक्कत के बाद इस दीवार पर जो अब खण्डित अवस्था में उस गाँव में से होकर जाती हुई हमें देखने को छूने को मिली। वहाँ भी हम सबने रेखांकन किये। सुखद यादों के साथ हम एक ग्रामीण के ट्रेक्टर में बैठाकर वहाँ से लौटे थे। लगा कि जैसे अपने भारतीय गाँव में ही हैं। काफी समानताएँ हैं वहाँ के और हमारे देश की सरल मानसिकताओं में। मुझे ऐसा लगा।

पाँचवे दिन तो हम लोग 'डेटाँग' के शाँक्सी (Shanxi) प्रॉबिन्स के लिये रवाना हुए। जहाँ हमें चीन प्राचीन कला सम्पदा के बेहद खूबसूरत मंदिरों, बौद्ध गुफाओं के शिल्पों, जिन्हें ग्रॉटोज (Grottoes) कहते हैं को देखने का अवसर मिला। ये बौद्ध गुफाएँ डेटाँग शहर से 16 कि.मी. दूर वूजोउ (Wuzou Mountains) के पहाड़ों पर बनी हैं। जो कि युंगगैंग ग्रोटोज के नाम से जानी जाती हैं। ये संख्या में 45 गुफाएँ हैं जिनमें 51000 बौद्ध शिल्प हैं। चीनी बौद्ध कला की ये नायाब गुफाएँ विश्व धरोहर के रूप में घोषित हुई हैं। जो पाँचवीं शताब्दी की हैं। चीनी संस्कृति की ये प्राचीन गुफाएँ बौद्ध धर्म से प्रेरित शास्त्रीय शिल्पकला की अद्भुत धरोहर हैं। जो तीन प्रमुख कालों में 460-465, 471-494 तथा 494-524 कालखण्डों में निर्मित हुई हैं। पहली पाँचगुफाएं मुनि 'तान-याओ' के निर्देशों पर बनी हैं। इन सभी गुफाओं पर हजारों बौद्ध शिल्पों को बनाया गया है। जो कि बुद्ध की तीन पीढ़ियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनमें भगवान बुद्ध के सुंदर सौम्य मुद्राओं के साथ माटी के विशाल मूर्तिशिल्पों का कलात्मक संकलन इतनी भारी संख्या में है- देखते ही बनता है। यहाँ बुद्ध के इस अत्यन्त सुंदर मुख भावों को पहली बार देखा जो भारतीय कला में लगभग नहीं है। भारत के अजंता, एलोरा की गुफाओं में चित्र अधिक हैं शिल्प कम हैं। लेकिन भारत से प्रेरणा पाकर चीनी बौद्ध कला के इस अपूर्व वैभव का विस्तार अचंभित करता है। यहाँ एक गुफा में दस हजार लघु बुद्ध शिल्प गुफा की दीवार पर बने हैं जिन्हें उनकी सुंदर सौम्यता के साथ कितनी लगन से रचा गया है। यह एक अविस्मरणीय दिव्य अनुभव है। अगले पड़ाव में हम वहाँ के मंदिरों में पहुँचे।

चीन के प्राचीन शहर डेटाँग में ही फाउंहा मंदिर बने हैं। जो 38000 वर्ग कि.मी. में फैले हैं। यहीं पर एक लामाओं का स्तूप भी है। जो यूआन राजवंश के अंतिम पड़ाव और मिंग काल के शुरूआती समय में बनाया गया। जो कि एक बोतल के आकार का है। इस स्तूप के भीतर प्राचीन 'कमल-सूत्र' पाया गया जिसके कारण इस स्तूप को पाउहा (Fahua) कहते हैं। यहाँ बने बौद्ध मंदिरों में जितने सुंदर विशाल आकार में बने 'ग्रेट बुद्ध हॉल' के बुद्ध के विभिन्न शिल्पों में जो भव्यता है उनके एनॉटॉमिकल स्ट्रक्चर के साथ वे अपनी सौंदर्यपूर्ण आकर्षक पाँच बुद्ध समूह के शिल्पीय बनावट को देखकर ही सबकी

आँखों में विनम्र श्रद्धा पैदा कर देते हैं। इन्हीं शिल्पों के ठीक पीछे दीवारों पर विशल, वृहद और बेहद खूबसूरत भित्ति चित्र बने हैं जिनके मधुर सौम्य और लुभावने रंग बरबस ही चित्र के एक-एक हिस्से पर की गयी पारम्परिक वेशभूषा में सज्जित आकृतियों का वैभव आँखों से ओझल नहीं होने देते। ये सब चित्र फ्रेस्को चित्र कहे जाते हैं जिन्हें गुवांश रंगों से रंगा गया है। ये जातक कथाओं का चित्र रूपांतरण है। इन मंदिरों की छतों पर भी सुंदर रंगों के चित्र बनाये गये हैं। यह सबसे प्राचीन 'ताँग' कालीन मंदिरों का विशाल समूह है। जिसके प्रवेश द्वार ही इतने खूबसूरत हैं कि उनसे नजर हटाना ही असंभव था।

फिर हम लोग यहाँ के 'यिंग काउंटी' क्षेत्र में वहाँ के प्रसिद्ध काष्ठ 'पैगोडा' देखने गये। इसी बीच यहाँ के प्राचीन डेटाँग शहर के दक्षिण दोंग्जी हिस्से में 'नौ ड्रैगनों की दीवार' (Nine Dragon Wall) को देखा जो 1368 में मिंग राजवंश में बनाई गई थी। यह रंगीन ग्लेज्ड सिरेमिक टाइल्स से सज्जित नौ ड्रेगन्स की दीवार है। जिसमें विभिन्न मुद्राओं में विभिन्न ड्रेगन्स (मकर) बने हैं। जो कि चीन राज्य का पवित्र चिन्ह है। इतनी रंगीन टाइल्स की यह दीवार चीन की सबसे प्राचीनतम दीवार है। जिसकी कलात्मक खूबियाँ उसके नीले हरे रंग की पृष्ठभूमि पर सर्पाकार विकराल सुनहरे मकबरों का अलंकारिक शिल्पांकन है। यहाँ चीनी कलाकारों के इतने रंगों में सिरेमिक विधा में पारंगत होने के प्रमाण मिलते हैं जो बहुत कठिन विधा होती है।

चीन में पाँच पवित्र पर्वत है। जिन्हें 'चेम्बर ऑफ द गॉड ऑफ होली माउँटेन्स' कहा जाता है। उसी में से डेटाँग के हेनसान (Hengshan) काउंटी में भी हम पहुँचे थे। सुंदर दृश्यों और वैभवशाली सांस्कृतिक इतिहास रचने वाले इस पवित्र जगह को 'ताओ वाद' की जन्मस्थली कहा जाता है। हेनशान को इसी कारण चीन की राष्ट्रीय धरोहर माना गया है। जो कि शँक्सी (Shannxi) प्रॉविन्स में है। यहाँ हमने छठवीं शताब्दी में निर्मित 'हैंगिग टेम्पल' को देखा। जो ऐसी दुर्लभ महीन पहाड़ी के किनारे से सटी हुए हिस्से पर बनाये गये हैं। जो एक तरह के वुडकट रिलीफ शिल्पों की तरह हैं, आधे बाहर हैं जिसके नीचे बहुत गहरी घाटी है। दो घण्टों तक यहाँ पर हम पाँचों चित्रकारों ने इस परिदृश्य का चित्रण भी किया।

इसके अलावा हमें बहुत ही खूबसूरत चीनी आदिम संस्कृति (पोलियो लिथिक काल के) के उस घाटी में ले जाया गया जहाँ तब के आदि मानव के रहने के स्थान पर बने विस्तार देते हुए मुल्तानी माटी के पर्वत हैं और दूर अनंत तक फैली व्हैली है। यही पर्वत चीनी चित्रकारों के 'वॉश तकनीक' में बने दृश्य चित्रों के प्रेरणा चिन्ह रहे। ये पहाड़ माटी के होने के कारण बारिश के दिनों में पानी की बौछारों से बनी बहती धाराओं के अद्‌भुत आकारों को ग्रहण करने से अपनी विशाल ऊँचाईयों में वहाँ खड़े मिलते हैं। एक विहंगम पर्वत श्रृंखलाओं के दृश्य मोहित कर देते हैं। इन सब दृश्यों को आँखों में बसाकर हम वापस बीजिंग की ओर 20 जून को लौटे।

वहाँ हमें पास ही में बने कलाकार ग्राम में (Artist Village) पाँच दिन चित्र कार्यशाला में अपने पाँच केनवस चित्रित करने थे। यह जगह साँगजुआँग कहलाती है। जिसमें जिनहुई (Jinhui) आर्ट स्कूल में हमें वहाँ के कला संस्थान के पारम्परिक माहौल में अपने पाँच दिन कला के छात्रों के साथ चित्र रचते हुए बिताने थे। इसके पहले 10 दिन हम सबने आधुनिक सात सितारा होटलों में वहाँ की

प्रवासी चित्रकारों और चीन के कलाकारों के साथ मंजूषा (बांये से द्वितीय)

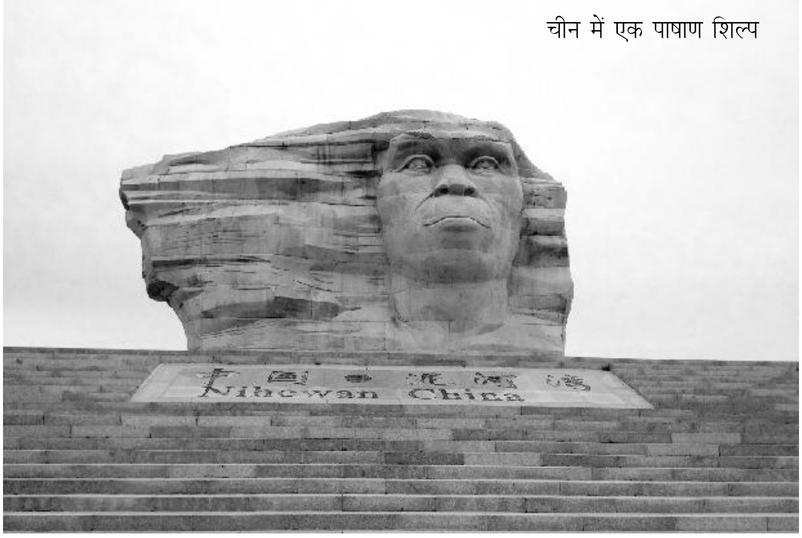

चीन में एक पाषाण शिल्प

सभी सम्पन्न सुविधाओं का सुख पाया था। यहाँ हमें वास्तविक कला संस्थानों में (गुरूकुल की) कला शिक्षा ग्रहण करते हुए वहाँ की सीमाओं में रहने आदि का अनुभव भी दिलाया गया। यहाँ बहुत ही सुखद और सृजनरत रहने के लिये विशिष्ट मूड का माहौल का हमें अनुभव मिला। हम सबने अपने 5'x5' के केनवस पर अपनी शैली में बहुत ताजगी और उमंगों से भरे अनुभवों के साथ चित्रित किये।

मैंने वहाँ देखे हुए विशाल लाल माटी के पर्वतों को सुदूर निकट उड़ते नीले बादलों की झीनी परतों को और नीले-नीले पेड़ों को अपनी बोल्ड शैली में केनवस पर एक्रेलिक रंगों से बनाया। इसके अलावा मेरी अपनी शैली 'कोलाज विधा' को मैं कैसे दूर कर सकती थी। उसमें भी अपने चिरपरिचित रेशमी पहाड़ों को कागजों की कतरनों से बनाया।

25 जून को हम सबके बनाये इन चित्रों की प्रदर्शनी विशाल 'बुकुई कलादीर्घा' में आयोजित की गई। यह गैलरी वहाँ के प्रसिद्ध समकालीन चित्रकार साँग्जुआँग बोकुई की व्यक्तिगत कला दीर्घा है। इस आर्ट विलेज में 10 हजार चित्रकार रहते हैं जिनमें 90 प्र.श. चित्रकारों की अपनी-अपनी 4-5 मंजिल वाली सम्पन्न कला दीर्घाएँ हैं। जहाँ वे स्वयं रहते भी हैं और कलाकर्म भी करते हैं साथ ही इन गैलरीज में प्रदर्शनियाँ भी होती हैं। यानि की चीन के चित्रकार 10 हजार की संख्या में बीजिंग के पास इस कला ग्राम में इतनी सम्पन्न स्थितियाँ में रह रहे हैं। यह अत्यंत सुखद स्थितियाँ कलाकार और वहाँ की कला को दिखाता है। इसके बावजूद चीनी समकालीन चित्रकार आज भी अपनी पारम्परिक चित्र शैलियों में ही विशाल केनवस रच रहे हैं। आधुनिकता के इस दौर में चित्रण सम्पन्नता उनकी वास्तविक चित्र विधानों से दूर नहीं गई है। लेकिन प्रयोगशीलता को भी नकारा नहीं गया है। बारीकियों के समस्त तत्व चीनी समकालीन चित्रों में जस के तस हैं। ब्रश संघातों की 'वॉश' तकनीक आज भी वैसी ही है।

यहाँ हमने एक और खास बात देखी वह यह कि चीन में होटल संस्कृति बहुत प्रचलित है। जिसके तहत चित्रकारों के अपने स्वयं के 'रेस्तराँ' भी हैं। जहाँ वे स्वयं भोजन परोसते हैं। रेस्तरां में सभी आधुनिक सुविधाएं हैं। साथ ही उसी में खाना खाते-खाते कला पुस्तकें भी रखी हुई मिलेंगी जिन्हें आप पढ़ सकते हैं। चित्र भी बना सकते हैं। सुंदर चीनी शास्त्रीय गीतों का मधुर संगीत भी चलता रहता है। कुल मिलाकर चित्रकार काफी सम्पन्न हैं- यही लगा। बहरहाल।

कार्यशाला के अंतिम दिवस पर चीन के सांस्कृतिक मंत्रालय के प्रमुख ने हमारे चित्रों की प्रदर्शनी का उद्घाटन किया। हमें वहाँ इकट्ठे हजारों दर्शकों के साथ विधिवत परिचित कराया। प्रमाण पत्र भी दिये। सभी ने हमारी कला को खूब सराहा। मुझे चीन की महिला चित्रकारों के साथ प्रदर्शनी के लिये पुनः आमंत्रित किया गया। साथ ही 'कोलाज कार्यशाला' के लिये शीघ्र ही मुझे वहाँ आने का अवसर दे रहे हैं। यह यात्रा केवल यहीं समाप्त नहीं होती। मैंने ये सोलह दिन जिस चित्रमय दुनिया में बिताये हैं उसे तो यहाँ ठीक से लिख भी नहीं पाई हूँ। बहुत सारा अव्यक्त है। लेकिन बहुत सारा मेरे केनवस पर शीघ्र ही अगली प्रदर्शनी में मेरे चीन प्रवास को जीवित कर देगा। यही गहरी उम्मीद और उमंग मेरी बरकरार रहेगी।

विशाल लाल माटी के पर्वतों को, सुदूर निकट उड़ते नीले बादलों की झीनी परतों को और नीले-नीले पेड़ों को अपनी बोल्ड शैली में केनवस पर एक्रेलिक रंगों से मैंने उकेरा। इसके अलावा मेरी अपनी शैली 'कोलाज विधा' को मैं कैसे दूर कर सकती थी। उसमें भी अपने चिरपरिचित रेशमी पहाड़ों को कागजों की कतरनों से तैयार किया।

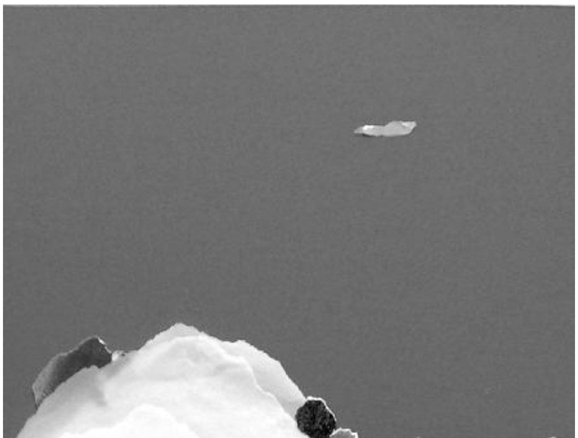

मंजूषा गांगुली की कला में उतर आई चीन की वादियाँ

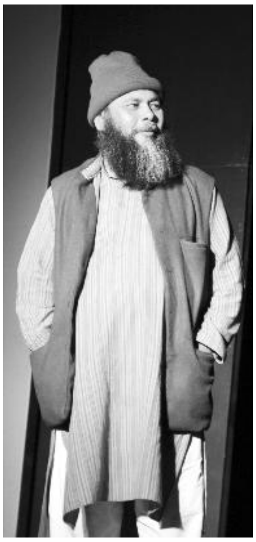

नाटक कोई पैकेज नहीं है

हिन्दी रंगमंच के आधुनिक परिसर में **संजय मेहता** की सक्रियता, हर बाई नई मंशाओं के साथ फिर-फिर उदित होने, अपने को साबित करने तथा सोच के सफे पर नई कौंध भरी दस्तकें देने वाले अभिनेता-निर्देशक की शिनाख्त बनी है। भोपाल की कारंत-कार्यशाला में रंगकला का ककहरा पढ़ने वाले उन थोड़े से सौभाग्यशाली कलाकारों में संजय की गिनती है जिन्होंने नाटक के बुनियादी के बुनियादी मर्म को समझने का कौशल अर्जित किया। उपलब्धियों के अंक गणित में बहुत न उलझते हुए मानवीय अर्थ की तलाश करने वाले गंभीर नाट्य सृजन की दिशाएँ उन्होंने तय की। अपनी शख्सियत में उन तमाम रुझानों की संभावना जगाई जो जीवन और कला की परस्परता को बहुत सहजता से जानने-समझने का संज्ञान बने।

शेष विशेष

विनय उपाध्याय

संजय के पक्ष में यह शुभ है कि आपाधापी और उलझनों के संजाल से निकलकर उन्होंने धीरज के साथ अपनी बौद्धिक कुव्वत का अर्जन किया। कला, समाज और समय के पेचीदा सवालों से सामना करने और उनके समाधान की तार्किक-दार्शनिक शक्ति जुटाई। खानाबंदियों की कुत्सित राजनीति के चंगुल में फँसे कलावाद को तौबा कर अपनी मौलिकता की हिमायत की। 'रंगशीर्ष' जैसे आमफहम नाट्य समूह का सपना देखने वाली उनकी आँखों के सामने फैला रंग-बिरंगा आसमान अब उनकी उड़ानों का गवाह बन चुका है। बेशक, अपेक्षाओं, कसौटियों और मुस्कुराहटों के बीच जीते हुए यह रंगकर्मी निराश नहीं हुआ। बकौल संजय, रंगमंच वह जमीन है जहाँ खरोंच और मुस्कुरहाटों के बीच जीते हुए हर बार जिंदगी का एक नया तजुर्बा मंत्र-सूत्र की तरह हाथ लगता है। ऐसे में हर चुनौती आसान हो जाती है।

संजय मेहता की थिएटर से दिल्लगी भी अजीब हिचकोलों का शिकार रही। तूफानी इरादों और दूर-पास होती मंजिलों के बीच कुछ ऐसे हितैषी हाथों ने उम्मीदों की उंगली थामी जिन्होंने ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर उन्हें चलना सिखाया। रंगकर्म के अनुशासन और अध्यात्म की जिल्दबंद किताबों में कैद न होकर जीवन और कला के खुले कपाटों में प्रवेश करने की प्रेरणा दी। और यही सब संजय के काम आ रहा है। इसी आत्मबल ने उन्हें स्वयं के हस्ताक्षर गढ़ने की क्षमता दी।

वर्ष 1983... भोपाल में भारत भवन की स्थापना हुए ज्यादा वक्त नहीं हुआ था लेकिन म.प्र. के सिरोंज कस्बे के पूजा-पाठी कला-संस्कारी कुल में पैदा हुए और कटनी-उज्जैन में ड्रामा की ट्रेनिंग ले चुके संजय नवयुवक कलाकार के लिए मूर्धन्य रंगकर्मी ब.व. कारंत के निर्देशन में शुरु हुए 'रंगमंडल' में भर्ती होना एक बड़े सपने का पूरा होना था। चयन हो गया तो रंगमंडल का मौहाल देखकर अजीब ऊब पैदा होने लगी। एक कस्बाई चंचल मन प्रशिक्षण की प्रविधियों पर हावी लंबे अन्तराल को पचा नहीं पाया। सात दिन में अपने गाँव-घर सिरोंज में वापसी। फिर इंदौर में 'शार्ट हेंड' की ओर रुख किया। लेकिन मन वहाँ भी उचाट मारने लगा। अचानक भारत भवन से कारंतजी की चिट्ठी डाक से सिरोंज पहुँची- 'जल्दी ही भारत भवन आकर संपर्क करें'। पहुँचे, तो कारंतजी ने फटकारा- 'बिना बताए कहाँ भाग गए थे? यहीं रहना होगा तुम्हें'। उस तल्खी में जैसे संजय का भविष्य तैर रहा था। एक सच्चे हितैषी का अधिकार और आत्मीयता भी। संजय के लिए वह दिन सौगंध से लेकर आया- 'थिएटर करेंगे और सिर्फ थिएटर करेंगे।' संजय बताते हैं कि इस घटना ने जैसे उनकी ज़िंदगी का पन्ना ही पलट दिया। यह 13 मई 1985 का दिन था। यह तारीख उनकी तकदीर लिख गई। पलायन और नाटकों की ओर पुनः प्रवेश ने दरअसल स्वयं की खोज का रास्ता भी तय किया, वह रास्ता जो थिएटर से होकर जाता है।

ऐसा नहीं है कि नाटक संजय के शैशव या किशोरवय से दूर रहे। स्कूल में और कस्बे की रामलीला में कुछ किरदार करने के मौके मिले थे। दादा, पंडित खानदान से थे। नाटकों में रुचि थी। उन्होंने एक नाटक भी लिखा था। इस पारिवारिक सांस्कृतिक राग का असर तो भीतर था लेकिन 'रंगमंडल' ने रंगकला को समग्रता में पूरी गंभीरता से समझने की दृष्टि दी। संजय को कारंतजी ने 'स्कंदगुप्त' में अभिनय का अवसर दिया। बीस-बाईस साल की उम्र के युवक के सामने महाकवि जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक के तमाम संदर्भों और उसके दार्शनिक पक्षों को जानने-समझने का यह पहला अनुभव था। 'स्कंदगुप्त' ने बहुत सिखाया। संजय मेहता इस स्वीकार के साथ उस क्षण को भी याद करते हैं जब ग्वालियर में इस नाटक

को देखने के बाद हिन्दी के ख्यात लेखक पंडित हरिहरनाथ द्विवेदी ने पत्र लिखकर उन्हें साधुवाद दिया था- 'ऐसी ही भूमिका हमेशा करें।' संजय की स्मृति में कारंतजी एक महान गुरु के रूप में बसते हैं। अपने मन में 'बाबा' की इस सम्मानजनक हैसियत को साफ करते हुए संजय कहते हैं कि कारंतजी की महानता के पीछे उनके भीतर मौजूद असाधारण मनुष्यता थी। इंसानियत का यह तकाज़ा उनके रंगसृजन में रुपायित हुआ और दर्शकों से रुहानी रिश्ता जोड़ने में सफल रहा। यही वजह है कि 'रंगमंडल' भारत भवन की हर प्रस्तुति में चाहे उसे कारंतजी या अन्य किसी ने निर्देशित किया हो, मनुष्यता की आँच हर-हमेश कायम रही। इस आग्रह और स्थापना के पीछे कारंतजी की ही भूमिका थी। शकुंतला की अंगूठी, दलदल, राई का पर्वत, फैद्रा, तो सम पुरुष न मो सम नारी, गरम कोट, यहूदी की लड़की आदि वे नाटक हैं जिनमें संजय ने कई किरदारों को अपने अभिनय में सजीव किया।

यही वो वक्त था जब अभिनय के साथ ही रंगमंच के आधारभूत पाठों को पढ़ने का बेशकीमती मौका मिला। यानी नाटकों के सैद्धान्तिक सूत्र दर्शकों की या सामाजिक संवेदनाओं की कसौटी पर खरा उतरते हुए किस तरह एक सामूहिक रचनात्मक मानसिकता से गुजरते हैं। या कि संगीत, चित्रकला, प्रकाश आदि विधाएँ किस तरह नाटक की संपूर्ण अभिव्यक्ति का प्रभावी घटक बनती है। यह भी कि अभिनय में वाचिक और आंगिक शक्ति या कौशल की कितनी अहमियत है, आदि। संजय मेहता के स्वतंत्र चेता रंग व्यक्तित्व के परिष्कार में रंगमंडल से मिले ये सबक बहुत कारगर साबित हुए। आज भी नाटकों में अपने अभिनय को साधते हुए संजय उन मानकों या सीखों का ही संबल पाते हैं जो उन्हें अपने गुरु कारंत या इब्राहिम अलकाजी, रुद्र प्रसाद सेनगुप्ता, बी.एम. शाह, अलखनंदन, बेरी जॉन, बंसी कौल, के.एन. पणिक्कर, जयदेव हटंगड़ी, रॉबिन दास, प्रसन्ना, सुधीर कुलकर्णी, शेखर वैष्णवी और जॉन मार्टिन (युनाइटेड किंगडम), फ्रिट्ज बेनिविट्ज (जर्नी) तथा जॉर्ज लेवेण्डो (फ्रांस) जैसे देशी-विदेशी निर्देशकों के साथ काम करते हुए मिलीं।

एक लंबा अंतराल पार करने के बाद संजय ने अपनी रंगऊर्जा और अनुभव के प्रयोग का नया ज़रिया चुना और निर्देशन का साहस बटोरा। कहानी और कविता की पाठ-प्रस्तुति, उनके मंचन का अबाध सिलसिला तो शुरु किया ही, प्रस्तुतियों के समानांतर इन दोनों विधाओं के इर्द-गिर्द नई वैचारिक बहसों में रुचि दिखाई। फायदा यह हुआ कि इस ताज़ा विमर्श से रंगमंच पर कथा-कविता को लेकर नए उत्साह का संचार हुआ। इस तारतम्य में आख्यायिकाओं की एकल प्रस्तुति और कविताओं की पाठ-प्रस्तुति के लिए संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार ने संजय को फैलोशिप दी। उत्तरप्रदेश संगीत नाटक अकादेमी ने सफदर हाशमी राष्ट्रीय सम्मान और इफ्तेखार नाट्य उत्सव समिति भोपाल ने सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का सम्मान भेंट कर संजय की पहल को सुयश प्रदान किया। इन सबके बीच अपनी 'डायरेक्ट स्किल' की चिंता वे बराबर करते रहे। संजय बताते हैं कि उनका भरोसा जागा- 'सादर आपका' से। दयाप्रकाश सिन्हा के इस नाटक का निर्देशन उन्होंने रंगकर्मी मित्र नज़ीर कुरैशी के आग्रह पर किया था जिसका मंचन आकाशवाणी भोपाल द्वारा आयोजित एक नाट्य उत्सव में हुआ था। इसे बहुत सारे दर्शक मिले। फिर भीष्म साहनी के 'माधवी' में बतौर डिजाईनर-डायरेक्टर सहयोग किया। इस गति में एकाएक संजय ने कविता पर फोकस किया। गौरतलब है कि सन् 2000 में रंगमंडल बंद हो गया और इस दुर्भाग्यपूर्ण फैसले के बाद उनकी रंगयात्रा एक नए पड़ाव की ओर चल निकली।

इस बीच असुरक्षा का बोध? ...संजय इस सवाल पर मिलीजुली प्रतिक्रिया जताते हुए कहते हैं- ''बहुत ज्यादा मायूसी और असुरक्षा इसलिए नहीं महसूस हुई कि हमने भीतर के विश्वास को बुझने नहीं दिया। हाँ, फ्री लाँस थिएटर करने की राह में व्यवस्था के तंत्र ने जरूर परेशान किया लेकिन इससे भी जल्दी ही मुक्ति पा ली। आध्यात्मिक चिंतन और अपने पुरुषार्थ ने मदद की।

संजय का मानना है कि हर रंगकर्मी के लिए यह जरूरी है कि वह हमेशा रचनात्मक ऊर्जा, जिज्ञासा और दायित्वबोध से भरा रहे। हमें देशकाल के प्रति उत्तरदायी रंगकर्मी तैयार करना होंगे। वे, जो जीवन दृष्टि का निर्माण करने में सहायक हो। यदा-कदा संजय का चेहरा टी.वी. और सिनेमा के स्क्रीन पर भी नुमाया हुआ। इसे व्यावसायिक आग्रह और उनके भीतर अदाकार की महत्वाकांक्षी की तुष्टि भी कहा जा सकता है। लेकिन नाटक से किनारा कर लेने की शर्त पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। रंगमंच ही उनका स्थायी बसेरा है। इस बीच संजय वस्तुवाद और प्रसिद्धि की चमक-दमक भरे मनोरंजन प्रिय समाज के सामने नाटकों के वजूद की चिंता को जायज मानते हैं। लेकिन समाधान के सिमट जाने के तर्क से सहमत नहीं। कहते हैं कि इसी बीच राहें तलाशनी होंगी। मैं पूरी तरह निराश नहीं हूँ। हर सवाल का जवाब है नाटक के पास। मिसाल देते हैं अपने नाटकों की- 'लोई का ताना' को लीजिए। मैंने कथा के जरिए कबीर की आईडियोलॉजी पेश की है। 'सीता वनवास' में बिल्कुल आज की स्त्री के सवाल हैं। 'कर्मयोगी' में वनमाली जैसे आदर्श शिक्षक और साहित्यकार की रूह में मनुष्यता को लक्ष्य किया है। यही नजरिया मेरे हर नाटक में मुखर होता है।

संजय दलील देते हैं कि शौकिया रंगकर्म को सीमित संसाधनों में बेहतर आउटपुट देने का माद्दा अख्तियार करना होगा। मैं अपने प्रॉडक्शन को बहुत कॉसली होने से बचाता हूँ। नए बच्चों, युवकों को मौका देता हूँ। अपनी रेपर्टरी 'रंगशीर्ष' में उनसे साहित्य, संगीत और अन्य कलाओं के विषयों पर संवाद करता हूँ। मानवीय जवाबदेही के लिए उनका मानस तैयार करता हूँ। संजय इस बात पर इत्तफाक नहीं करते कि रंगकर्म सिलेबस की पढ़ाई पर आश्रित है। नाट्य विद्यालयों को रंगकर्मियों की नई पौध का निर्माण किताबी ज्ञान से नहीं बल्कि जीवन के मैदान में उतरकर करना होगा। कारंतजी कहते थे- 'नाटक को पैकेज की तरह नहीं, दर्शन की तरह समझें।'

अंधेरे में : पचास वर्ष की युवा-कविता

रमेश दवे

लगभग चालीस पृष्ठों पर व्याप्त गजानन माधव मुक्तिबोध की बहुचर्चित-बहुपठित कविता 'अंधेरे में' एक प्रकार से स्वप्न-चेतना है, सन्देही-क्षोभ है, विडम्बना और व्याकुलता है, आत्मवेदना में निहित आक्रोश की ठण्डी पीड़ा है, मूर्तियों के जड़ चेहरों पर संवेदनहीन मनुष्य की स्पन्दनहीन आत्मग्लानि है, बिजली की किरणीली फुहार में झरती अग्नि चिनगियों का आशंकित अन्धेरा है और भी न जाने कितने विलोम हैं, विदीर्ण हृदय के रक्तस्नात घाव हैं और मनुष्य के मनुष्य होने के प्रति ऐसे संशय हैं जो हम अपनी एन्द्रिय भौतिकता में तो जीते ही हैं लेकिन कविता में रुपांतरित होकर वे संशय आत्म-सम्बोध है या कवि की उद्विग्नता से ग्रस्त अभ्यंतर की अभिव्यक्ति।

कविता पाँच वर्ष की हो या पचास वर्ष की या फिर पाँच क्षण की ही क्यों न हो, वह आत्म-द्वीप चेतना के स्फुल्लिंग की तरह जब शब्द-शब्द सर्जित होती है तो अनेक अर्थ उन शब्दों का पीछा करते हैं, ये अर्थ कवि के भी हो सकते हैं, कविता के भी और हमारे, उनके, सबके जो काव्य-सृष्टि के नागरिक हैं।

निराला ने भले ही ब्लेंक-वर्स में पहली कविता लिखकर कविता को छन्द-मुक्त कर, लय में उतारा हो, अज्ञेय ने नई कविता का भले ही वास्तविक मंगलाचरण कर उसे कला, बौद्धिकता और आत्म-व्यक्तित्व के सिंहासन पर बिठाकर कविता में भाषा का आल्हाद रचा हो, शमशेर बहादुर सिंह ने अपनी बिम्ब छटाओं से कविता में अर्थ के अन्वेषण की चुनौती खड़ी की हो, लेकिन इन सबसे अलग जब मुक्तिबोध की कविता पढ़ी जाती है तो लगता है कि वह अतीत के मनुष्य की वर्तमान में मुक्ति है, मनुष्य का वर्तमानीकरण है, सन्देह और संभावना के साथ, विक्षोभ और विडम्बना के साथ, चेतना और संवेदना के साथ। 'अन्धेरे' शून्य के सन्नाटे की तरह होते हैं, मुक्तिबोध 'अंधेरे में' शून्य की वाणी रचते हैं; सन्नाटों में चीख भरते हैं; और मनुष्य की नियति में उसके अस्तित्व की कथा बुनते हैं। 'अन्धेरे में' कविता महज एक कविता नहीं, वह तो एक संत्रस्त सदी का वैचारिक घोषणा पत्र है-

मुक्तिबोध

तिलस्मी खोह में गिरफ्तार कोई एक
भीत-पाद आती हुई पास से
गहन रहस्यमय अन्धकार ध्वनि-सा
अस्तित्व जता/अनिवार कोई एक
और मेरे हृदय की धक-धक/पूछती है- वह कौन
सुनायी जो देता, पर नहीं देता दिखाई/
-उठने दो अन्धेरे में ध्वनियों के बुलबुले
- इस तम-शून्य में तैरती है जगत-समीक्षा
-अंधियारे मुझमें द्युति-आकृति-सा
-भविष्य का नक्शा दिया हुआ उसका
-वह मेरी पूर्णसम पद्म अभिव्यक्ति
उसका तू शिष्य है (यद्यपि पलातक...)
वह तेरी गुरु है- गुरु है...
पीटे हुए बालक-सा मार खाया चेहरा
(विचारों की फिरकी, सिर में है घूमती।)
मर गया देश, अरे जीवित रह गए तुम!
-भूतों की शादी में कनात से तन गए।

-मैं खड़ा हो गया खुद के ही सामने
निज की ही घन-छाया-मूर्ति-सा गहरा

-अनुभव, वेतना, विवेक-निष्कर्ष/मेरे ही अपने यहाँ पड़े हुए हैं/ मेरा दिल डिबरी-सा टिमटिमा रहा है/
-जनता के गुणों से ही संभव है, भावी का उद्भव
-हम कहाँ नहीं हैं/सभी जगह हम/
-मस्तक-कुण्ड में जलती/सत्-चित्-वेदन
-अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने होंगे/
-बौद्धिक वर्ग है क्रीत-दास/किराये के विचारों का उद्भास

'अंधेरे में' कविता के ये कुछ अंश न तो किसी एक समय के हैं, न स्पेस के, बल्कि ये हैं हमारे अपने अस्तित्व के अहसास के, यंत्रणा के, विसंगति और वेतना-जन्य विक्षोभ के, विखण्डित-विडंबित बौद्धिकता के पाखण्ड के और वेदना-जन्य विक्षोभ के, विखण्डित-विडंबित बौद्धिकता के पाखण्ड के और जीवन जीने के आत्म-व्यंग्य या आत्म-व्यथा के। अंधेरे में द्युति को देखता मुक्तिबोध युति, गति, रफ्तार सबमें सभ्यता के विलोम देता है,इसलिए मंतव्य मृत हैं, बुद्धि का भाल फूटा हुआ है। आक्रोश के चीत्कार के बनाए कवि के मन में एक क्षुब्ध चेतना बची है जो कहती है कि जनता के गुणों से ही भविष्य का उद्भव संभव है। इसलिए कवि केवल बुद्धि का क्रीतदास क्यों रहे। अभिव्यक्ति के खतरे तो उसे उठाने होंगे।

मुक्तिबोध में एक प्रकार की वितृष्णा है उस नपुंसक समाज के प्रति जिसके पास कोई आत्म-समीक्षा नहीं, आत्म-ग्लानि नहीं, आत्म-विश्वास नहीं। इसलिए वह चाहता है अन्धेरे में ध्वनियों के बुलबुले। यही कारण है कि कवि को लगता है- मर गया देश, अरे, जीवित रह गए तुम! मुक्तिबोध बेचैन हैं, क्षुब्ध है, अदृश्य की भूत-आकृतियों के भय देख रहे हैं लेकिन एक प्रकार से विचारों के पराधीन समाज की मजबूरी भाँपकर ही सोच रहे हैं जीवन क्या जिया।

पचास वर्ष की इस युवा कविता में ताल्सताय आएँ या गाँधी, आग और गोली आए या मार खाये बच्चे-सा देश, मुक्तिबोध तो एक नागरिक-कवि हैं, वे मनुष्य के अनागरिकपन से संत्रस्त हैं। 'अंधेरे में' एक ऐसी कविता है, जो पचास वर्ष से अनवरत हमारी समूची संवेदना का प्रकाश बनी हुई है।

ग्राम्य जीवन का नया आख्यान

श्रीलाल शुक्ल स्मृति सम्मान

कथाकार मिथिलेश्वर

मैला आंचल 'परती परिकथा'के बाद बिहार की ग्राम्य केन्द्रित उपन्यास की परम्परा को आगे ले जाने वाले साहित्यकारों में मिथिलेश्वर अग्रणी रहे हैं। भारतीय हिन्दी कहानी में एक दौर ऐसा भी रहा जब प्रेमचन्द और रेणु के बाद 'गांव' को हिन्दी कहानी से खारिज करने की दुरभिसंधियां भी हुईं। जब मिथिलेश्वर ने साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई तो शहरी बनाम गंवई कथा-आंदोलन दम तोड़ रहा था। 'कोशी का घटवार' ने कहानी में हलचल मचा रकी थी। मिथिलेश्वर ने भी साहित्य में संघर्षरत उस गांव को हिन्दी कहानी में पुनर्प्रतिष्ठित करने में जो महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, सत्तरोतरी कहानी की जब चर्चा होगी, बगैर मिथिलेश्वर के कभी पूरी नहीं हो सकेगी।

हाल ही उन्हें सरकारी संस्था इंडियन फारमर्स फर्टिलाइजर को-ऑपरेटिव लिमिटेड की ओर से स्थापित श्रीलाल शुक्ल स्मृति सम्मान देने की घोषणा हुई है। गांव से मिथिलेश्वर का कितना जुड़ाव रहा उसकी गवाही देती है मिथिलेश्वर की कहानियों में रची-बसी धूल, मट्टी, हवा पानी। मिथिलेश्वर के उपन्यासों में उपस्थित रिवाज, संस्कार, वनस्पतियों के महत्व और गोबर-गोइंठे की गंध।

कहानी कहने-सुनने के बीज मिथिलेश्वर के भीतर बचपन से ही पड़ गए थे। मिथिलेश्वर की माँ (स्वर्गीय) कमलावती देवी के पास लोकगीतों-लोक कथाओं का इतना विशाल भंडार था कि उसे सुनते-गुनते बाल मिथिलेश्वर का प्रारब्ध लगभग निश्चित हो चुका था। तिस पर मिथिलेश्वर की अपने विद्वान पिता श्री वंशरोपन लाल से विलक्षण स्मरणशक्ति की विरासत भी मिली। 'कातर' गांव के मिडिल स्कूल फिर 'सेंदहां' गांव की पाठशाला और जमोढ़ी के विद्यालय से विक्रमगंज महाविद्यालय से होते हुए मगध विश्वविद्यालय तक मिथिलेश्वर की शिक्षा-दिशा अत्यंत उतार-चढ़ाव से भरी रही। यों मिथिलेश्वर का लेखन अमोदी विद्यालय से ही प्रारंभ हो चुका था, परंतु सारिका के नवलेखन अंक (मई 1973 ई.) में प्रकाशित कहानी 'अनुभवहीन' के साथ हिन्दी कहानी के क्षितिज पर एक नया नाम उपस्थित हो गया था, मिथिलेश्वर। जल्द ही धर्मयुग सारिका और साप्ताहिक हिन्दुस्तान में मिथिलेश्वर ससम्मान उपस्थित होने लगे और फिर कालजयी कहानी 'बाबूजी' (धर्मयुग/ 1 सितम्बर 1974 ई.) के साथ मिथिलेश्वर ने धूम मचा दी। मिथिलेश्वर ने उसके बाद पीछे मुड़कर नहीं देखा। वह अबाध रचना-यात्रा आज भी अनवरत जारी है। नवसाक्षरों और बच्चों के लिए भी मिथिलेश्वर ने काफी लिखा। संप्रति वे अपनी दो खंडों में प्रकाशित आत्मकथा पानी बीच मीन पियासी 2010 तथा कहां तक कहे युगों की बात 2011 को लेकर चर्चा में हैं। मिथिलेश्वर की रचनाशीलता के मूलस्वर रहे हैं- मानवीय संबंध, नारी चेतना, लोकराग, मनुष्य की अदम्य जिजीविषा तथा मानव का मुक्तिकामी संघर्ष। जब भी मिथिलेश्वर को लेकर कोई मिथक गढ़ा जाने लगा, मिथिलेश्वर ने हर आलोचना को अपनी रचना से अतिक्रमित किया। भुनिया और युद्धस्थल के बाद जब उन्हें गंवई उपन्यासकार के घेरे में सीमित करने की कोशिश की गई, मथिलेश्वर ने विषय भाषा-परिवेश के अपने पुराने ढांचे को ध्वस्त कर प्रेम न बाड़ी उपजे, लिख कर आलोचकों को चौंका दिया। मिथिलेश्वर ने जहां प्रेमचंद की कथा-परम्परा का विकास किया, वहीं बाबूजी और हरिहर काका जैसे बोहेमियन चरित्रों को पाठकीय संवेदना में जोड़ते हुए हिन्दी कहानी का एक नया सौंदर्यशास्त्र भी गढ़ा। सृजनातम्क ऊर्जा और आकर्षक व्यक्तित्व के धनी मिथिलेश्वर के लिए साहित्य के बड़े नाम या संकोची नवप्रवेशी में कोई अंतर नहीं होता। वह स्मित मुस्कान के साथ नए से नए कथाकार का यूं स्वागत करते हैं, मानो वह साहित्य का बड़ा नाम हो। इतनी व्यस्त दिनचर्या परंतु साहित्यिक सामाजिकता का भी शालीन निर्वाह। मिथिलेश्वर यह कैसे कर पाते हैं, रहस्य है उनकी अनुशासित दिनचर्या और नियमित लेखन। वे दोपहर या शाम को कतई नहीं लिखते। दो-तीन किलोमीटर का नित्य सांध्य भ्रमण मिथिलेश्वर की नियमित दिनचर्या है इस बीच साहित्यिक संबंधों का निर्वाह या साथ टहलते हुए साहित्य चर्चा उन्हें भाती है।

-राकेश कुमार सिंह

गांव से मिथिलेश्वर का कितना जुड़ाव रहा उसकी गवाही देती है मिथिलेश्वर की कहानियों में रची-बसी धूल, मिट्टी, हवा, पानी। मिथिलेश्वर के उपन्यासों में उपस्थित रिवाज, संस्कार, वनस्पतियों के महत्व और गोबर-गोइंठे की गंध।

नन्हें फनकारों की 'चहक-महक'

वनमाली सृजन पीठ ने तैयार किया बच्चों का स्थायी मंच

उम्र और तजुर्बे भले ही छोटे हों लेकिन हुनर और हौसले ऐसे कि हर नन्हीं प्रतिभा पर निहाल हो जाने का मन करे। स्कोप कॉलेज की चार दीवारी में ऐसा ही चहक-महक भरा नजारा लिए नौनिहाल कलाकारों ने दस्तक दी।

वनमाली सृजन पीठ द्वारा राज्य संसाधन केन्द्र तथा आईसेक्ट भोपाल के सहयोग से आयोजित बारह दिनी कार्यशाला के दौरान तैयार गीत-संगीत और नाटक ''भुलवा भुलक्कड़'' की रोचक प्रस्तुति की हर दर्शक ने खुले मन से तारीफ की। कवि-कथाकार और आईसेक्ट विश्वविद्यालय के कुलाधिपति संतोष चौबे ने इस पहल का स्वागत करते हुए बच्चों के सृजनात्मक रुझान को विकसित करने के लिए एक स्थायी मंच तैयार करने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने बताया कि पूर्व में भी वनमाली सृजन पीठ के संयोजन में बच्चों की एक वृहत कला कार्यशाला आयोजन किया जा चुका है और इस दौरान हिन्दी महत्वपूर्ण कवियों की वाल कविताओं की दृश्य-श्रव्य प्रस्तुति तैयार की गई थी। 'फुहार' नामक इस प्रयोग ने बच्चों के पक्ष में रचनात्मक कार्य करने की बेहतर संभावना जगाई।

इस मौके पर श्री चौबे ने सभी प्रतिभागी बाल-कलाकारों को प्रमाण पत्र तथा पारितोषिक वितरित किये गए। कार्यशाला में बतौर विशेषज्ञ संगीतकार संतोष कौशिक, रंगकर्मी हेमंत देवलेकर और कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने शिरकत की। संगीत सहायक राजू वानखेड़े रहे। राज्य संसाधन केन्द्र के प्रभारी निदेशक संजय सिंह राठौर ने आगामी गतिविधियों में बच्चों की भागीदारी का खुलासा किया। उन्होंने बताया कि हर वर्ष अवकाश के दिनों में विभिन्न सृजनात्मक विधाओं पर कार्यशालाएं आयोजित की जायेंगी।

प्रस्तुति में हिस्सा लेने वाले बाल कलाकारों में - क्षितिज सिंग, आदित्य उपाध्याय, अम्बर त्रिपाठी, वेदांत उपाध्याय, सोनू काले, अनमोल गुप्ता, लव कुमार राव, जान्हवी माहेश्वरी, ईशान निगम, नीति शर्मा, मानसी पाण्डे आदि की सक्रियता उल्लेखनीय रही। सभा की शुरुआत संत कबीर की रचना ''झीनी-झीनी रे बीनी चदरिया'' से हुई जिसे आदित्य उपाध्याय ने स्वर दिया। इसके बाद सर्वेश्वर दयाल सक्सेना लिखित लोकप्रिय गीत ''इब्नबतूता पहन के जूता'' और ''बच्चा बच्चा मांग रहा है पानी-पानी'', ''एक थाल मोती से भरा'' तथा ''हम हैं वतन के सिपाही, इस वतन को है अपना सलाम'' जैसे सन्देश प्रधान गीत भी माहौल में सरोकारों की महक बिखेरते रहे।

नाटक ''भुलवा भुलक्कड़'' का मंचन सर्वाधिक प्रशंसा बटोरता रहा। बघेली लोक कथा पर आधारित नाटक में गांव के एक भोले बच्चे की दास्तान है। हेमंत देवलकर ने इसे निर्देशित किया।

आलोचना के नए आचरण की आहट

भोपाल। परंपरा, संस्कृति और इतिहास के जरूरी संदर्भों और साहित्य तथा विज्ञान की गहरी समझ के साथ संतोष चौबे हमारे समय के सवालों की पड़ताल करते हैं। उनका नजरिया समावेशी है। वे व्यापक और तर्कों के साथ अपनी किताबों में विमर्श की नई राहें खोलते हैं। हिन्दी में यह आलोचना के नए आचरण का सूचक है।

इस वैचारिक आहट के बीच स्वराज भवन (भोपाल) में सुप्रसिद्ध कवि- कथाकार और आलोचक संतोष चौबे की दो नव प्रकाशित पुस्तकों 'कला की संगत' तथा 'अपने समय में' का लोकार्पण हुआ।

संतोष चौबे की कृतियाँ **'कला की संगत'** और **'अपने समय में'** का लोकार्पण

साहित्य के प्रकाण्ड चिंतक डॉ. धनंजय वर्मा तथा अग्रणी कवि राजेश जोशी ने समीक्षा, संवाद और साक्षात्कारों पर केन्द्रित चौबे की इन कृतियों को जारी करते हुए इन्हें एक बहुआयामी और मननशील लेखक का महत्वपूर्ण रचनात्मक हस्तक्षेप बताया। युवा आलोचक पंकज चतुर्वेदी ने लोकार्पित पुस्तकों पर अपना आधार वक्तव्य दिया। कक्षा समीक्षक विनय उपाध्याय ने संचालन करते हुए आरंभ में चौबे की सृजनात्मक यात्रा पर प्रकाश डाला। पहले पहल प्रकाशन द्वारा संयोजित इस गरिमामय प्रसंग में राजधानी के लेखक, कलाकार और संस्कृतिकर्मी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। अपने पाठक-प्रशंसकों से मुखातिब होकर संतोष चौबे ने कहा कि इन पुस्तकों के जरिये मैंने साहित्य, संस्कृति और कलाओं की आपसदारी को नए सिरे से देखा-समझा। आलोचना की एक नई संवेदना ने मेरे भीतर जन्म लिया। चौबे ने इस अवसर पर लोकार्पित पुस्तकों में संग्रहित कुछ आलेखों के अंशों का पाठ भी किया। उन्होंने कहा कि हमारी आलोचना ने जो प्रतिमान अब तक गढ़े, आज उन दायरों से बहुत आगे निलने की जरूरत है। इस अवसर पर वरिष्ठ कवि राजेश जोशी ने संतोष चौबे के कृतित्व और व्यक्तित्व पर विस्तार से चर्चा करते हुए कहा कि संतोष चौबे लगभग चार दशकों से साहित्य और कला में सतत सक्रिय हैं और उनकी इन दोनों क्षेत्रों में बराबर की रुचियाँ उनके सृजन में झलकती हैं।

युवा आलोचक पंकज चतुर्वेदी ने संतोष चौबे के आलोचकीय कर्म पर टिप्पणी करते हुए कहा कि चौबे की आलोचना और विचार का केनवास बहुत व्यापक तथा विविध है। वह विभिन्न साहित्य और कला के तमाम रूपों में ही नहीं बल्कि ज्ञान की चेतना से उनका लेखन आलोकित है। यह एक सच्चे लोकतांत्रिक नजरिये से की गई आलोचना है क्योंकि वे रचनाकारों में छोटे-बड़ा का भेद नहीं करते। प्रतिभा को वे जन्मजात गुण नहीं मानते बल्कि जीवन संघर्ष के बीचों बीच अर्जित की गई विशेषता मानते हैं।

आभार व्यक्त करते हुए कवि महेन्द्र गगन ने कहा कि पहले-पहल प्रकाशन द्वारा श्रेष्ठ साहित्य के ग्रंथों की श्रृंखला जारी रहेगी।

गूंजी किताबों की आवाज़

यह धारणा गलत है कि आज पुस्तकें नहीं पढ़ी जा रही हैं और पठनीयता का संकट गहराता जा रहा है। किताबों का फलता-फूलता कारोबार यह साबित करता है कि अभी किताबों से समाज का मोहभंग नहीं हुआ है। दरअसल लोगों तक बेहतर पुस्तकें नहीं पहुंच पाना एक बड़ा संकट बनता जा रहा है। जरूरत है फिर से एक बड़े पुस्तक आंदोलन की जो बदलते दौर में पुस्तकों के प्रति नई पीढ़ी के गहरे रुझान को विकसित कर सके। हर जमाने में किताबों की जरूरत बनी रहेगी।

व्याख्यान : विजय अग्रवाल

प्रख्यात लेखक, विचारक और लाइफ मैनेजमेंट गुरू डॉ. विजय अग्रवाल ने यह विचार भोपाल स्थित स्वराज भवन में व्यक्त किये। विश्व पुस्तक दिवस के उपलक्ष्य में राज्य संसाधन केन्द्र और वनमाली सृजनपीठ द्वारा आयोजित एक आत्मीय समारोह को संबोधित करते हुए डॉ. अग्रवाल ने पुस्तक की संस्कृति और मौजूदा दौर में उसके बदलते हालातों पर अपना गंभीर विमर्श प्रस्तुत किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध कवि-कथाकार संतोष चौबे ने की। उन्होंने पुस्तक आंदोलन को पुनः समाज से जोड़ने के लिए नई सक्रियता की जरूरत जताई। उन्होंने कहा कि लोगों का किताबों के प्रति मोह भंग नहीं हुआ है। एस.आर.सी. भोपाल के प्रभारी निदेशक संजय सिंह राठौर और वनमाली सृजनपीठ के संयोजक विनय उपाध्याय ने अतिथियों का पुस्तक भेंट कर स्वागत किया।

तुम पढ़ती हो मुझे, गढ़ती हो मुझे...

समारोह में किताबों की चाहत और उनकी सिमटती दुनिया का कविताई इजहार लिए युवा कवियों ने भी दस्तक दी। मीडियाकर्मी विनय उपाध्याय ने इस मौके पर खासतौर से दादा साहेब फाल्के सम्मान के लिए चयनित कवि-शायर गुलजार की मशहूर कविता ''किताबें झाँकती हैं'' का पाठ किया- ''बड़ी हसरत से तकती हैं/महीनों अब मुलाकातें नहीं होती/बड़ी बेचैन रहती हैं किताबें/उन्हें अब नींद में चलने की

कविता में किताब : पंकज शुक्ला

आदत हो गई है।'' बाजार के बीहड़ में गुमशुदा होती किताबों के पक्ष में राग तेलंग ने व्यंग्यात्मक लहजे में पढ़ा- ''अब तो तुम्हें ही तय करना है जूता या किताब''। किताबों की सुध लेते हुए हेमंत देवलेकर ने अलमारी में बंद कविताओं की गुहार सुनाई- ''कैद में किताबें स्वप्न देखती हैं, कि जिज्ञासाओं का बेचैन झुण्ड आएगा भागता और अलमारियों के किले फतह कर लेगा।''

युवा कवि पंकज शुक्ला ने जीवन में किताबों की अहमियत को रेखांकित करती अपनी भावपूर्ण कविता पढ़ी- ''उलझनें जब बिगाड़ने लगती हैं धड़कनों की चाल/बार-बार उन्हें धता बताते हुए कहने लगता हूँ तुम्हारे पास समस्या हैं, भटकाव है, दुविधा है, अकेलापन है, तो मेरे पास किताबें हैं।'' शिफाली पांडे ने किताबों से अपना अंतरंगी नाता जोड़ती एक खूबसूरत कविता के जरिए अपनी भावनाएं कुछ इस तरह से अभिव्यक्त कीं- ''तुम ही तो थीं वो जो मुझे जिन्दगी के मैदान में लाती रहीं बार-बार। तुम पढ़ती हो मुझे, रोज गढ़ती हो मुझे।'' कार्यक्रम का संचालन पंकज शुक्ला ने किया।

अस्सी के धनंजय वर्मा

समग्रता का अहसास

आमतौर पर जन्म दिन या सम्मान समारोह पर भाषणों और फूल-मालाओं से लदे होते हैं मगर डॉ. धनंजय वर्मा का ८०वाँ जन्मदिन सार्थक संवाद के साथ मनाया गया। इस संवाद में डॉ. वर्मा के रचनात्मक अवदान पर तो चर्चा हुई ही साथ ही उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं को भी सुनने-समझने का अवसर बना। पहले पहल पाक्षिक, सरोकार और दुष्यंत कुमार पाण्डुलिपि संग्रहालय द्वारा धनंजय वर्मा जी का जन्मोत्सव १४ जुलाई को भोपाल में मनाया गया। अध्यक्षता संतोष चौबे ने की। डॉ. वर्मा से रामप्रकाश त्रिपाठी, शशांक, श्याममुंशी, रमाकांत श्रीवास्तव, राजेन्द्र शर्मा, महेन्द्र गगन, रेखा कस्तवार एवं बलराम गुमास्ता ने अपने प्रश्नों के माध्यम से उनके रचनात्मक अवदान पर चर्चा की। इन प्रश्नों का विस्तार से उत्तर देते हुए डॉ. धनंजय वर्मा ने अपनी स्मृतियों को खंगाला और अपने बीते समय के अनेक दुर्लभ क्षणों को जीवंत कर दिया।

संवाद का प्रारंभ रामप्रकाश त्रिपाठी ने किया। उन्होंने कहा कि मैं नाक पर मक्खी नहीं बैठने देने के मुहावरे को समझ ही नहीं पाता यदि मैं डॉ. धनंजय वर्मा जी से न मिला होता। उन्होंने डॉ. धनंजय वर्मा से पूछा कि वह दिन कब आयेगा जब कथा साहित्य की आलोचना की अपनी मौलिक अवधारणा स्थापित होगी? डॉ. धनंजय वर्मा ने इसके उत्तर में कहा कि मैंने इसकी खोज की है। हिन्दी में कहानी और उपन्यास की आलोचना की शुरूआत पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी ने की है। वह भी 'सरस्वती' से यह परम्परा चली आ रही है उसी में सब आलोचक आते हैं।

कथाकार शशांक ने पूछा कि कृपया उस लेखक का नाम बताइये जिसे आपकी आलोचना ने गढ़ा है? और उस लेखक का भी जिसे आपके गढ़े जाने से कोई बदलाव आया हो और उसकी स्थिति कहां बन पाई? डॉ. धनंजय वर्मा ने उत्तर में कहा कि कोई आलोचक किसी को नहीं गढ़ता। वो ज्यादा से ज्यादा इतना कर सकता है कि वह आपकी बात पाठकों तक पहुंचा दे और पाठकों की बात आप तक पहुंचा दे। गढ़ेंगे तो आप ही। आप क्या समझते हैं नंददुलारे वाजपेयी ने निराला को गढ़ा था या रामविलास शर्मा ने निराला को गढ़ा था? निराला स्वयं प्रतिभाशाली थे। वाजपेयी जी ने, रामविलास जी ने या मैंने निराला के अवदान के महत्व को व्याख्यायित किया है। इसलिए प्यारे दोस्त गढ़ता कोई नहीं। मैं आपको गढूंगा? आलोचक यह केवल डिकोड करता है। यह डिकोडिफिकेशन जो है यही आलोचना का काम है।

श्याममुंशी, रमाकांत श्रीवास्तव, रेखा कस्तवार, बलराम गुमास्ता, शैलेन्द्र शैली, महेन्द्र गगन, राजेन्द्र शर्मा आदि ने उनसे प्रश्न किये जिनका विस्तार से जवाब डॉ. धनंजय वर्मा ने दिया। अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में संतोष चौबे ने कहा कि यह एक बहुत आत्मीय और प्रेमपूर्ण आयोजन हुआ। मेरे लिये यह एक ऐसा अनुभव था कि किसी 'टॉवर' पर चढ़कर हम जब किसी शहर को देखते हैं तो मालूम पड़ता है उस शहर का इतिहास क्या है। धनंजय जी से संवाद जब तक चल रहा था तो मुझे यह महसूस हो रहा था कि

जैसे हम एक बड़े टॉवर पर चढ़ गये हैं और वहीं से साहित्य के इतिहास को देख-जान पा रहे हैं। और यह लगभग ऐसा है कि उससे आप नजदीकी भी प्राप्त करते हैं, ऊंचाई भी प्राप्त करते हैं और बहुत दूर तक देख पाते हैं। अक्सर हम जमीन पर चलते रहते हैं और उन्हीं संघर्षों की ज्यादा बात करते हैं। मगर आज इस समय यह अलग अनुभव था।

समग्रता की फीलिंग आपको बड़े पैमाने पर पढ़ने, समझने और देखने से आती है। साहित्य में हम लोग जो काम करते उन्हें, हें साहित्य के साथ अन्य विषयों पर देखने-समझने की जरूरत है। धनंजय र्मा जी से मेरा बहुत पुराना परिचय नहीं है। अभी कुछ वर्षों से मैं उन्हें कुछ मित्रों की वजह से निकट से जानने लगा। वे मुझे बहुत प्यारे व्यक्ति लगने लगे हैं। मुझे उनमें सबसे अच्छी बात यह लगती है कि वे बहुत सारे विषयों में जाते हैं और उस पर विस्तार से बात करते हैं। वे ज्ञान की समग्रता की बात करते हैं, जिसे हमें उनसे सीखने की जरूरत है। धनंजय जी के व्यक्तित्व में ही ये है कि वे अपने विचार-व्यवहार में साफ-सुथरे हैं, पर्सनालिटी में साफ-सुथरे, आदरणीय और प्यारे व्यक्ति लगते हैं।

इस अवसर पर धनंजय वर्मा पर केन्द्रित 'राग भोपाली' के विशेष अंक का लोकार्पण किया गया तथा धनंजय वर्मा के आलोचनात्मक निबंधों की किताब 'आलोचना के प्रतिमान' का भी विमोचन किया गया। संचालन मुकेश वर्मा ने किया।

-महेन्द्र गगन

कविता और स्मृतियाँ

जीवन की मुस्कान और उदासियों के संग गाती-गुनगुनाती बेशुमार यादों को कविता और संस्मरणों में पिरोते यशस्वी रचनाकार सुधीर मोता और प्रेमशंकर शुक्ल भोपाल की साहित्यिक बिरादरी के बीच नमूदार हुए। वनमाली सृजन पीठ द्वारा संयोजित ''संवाद और पाठ'' के इस आत्मीय प्रसंग में दोनों कवियों ने समय के साथ खड़ी चुनौतियों से मुठभेड़ करती रचनात्मक शक्ति के पक्ष में अपनी बातें साझा की। सुधीर मोता ने अपनी एक कविता में कहा- ''भाषा के एक विशाल समुद्र में रहते हैं, कभी एक छोटी नदी के प्रवाह में जाने के लिए छटपटाते हैं''। अरेरा कॉलोनी स्थित वनमाली सभाकक्ष में लगभग दो घंटे तक चले इस आत्मीय सिलसिले की शुरुआत करते हुए समन्वयक और कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने कहा कि संवेदना और कौतुहल से भरा कवि का भावुक मन यात्रा के हर पड़ाव से गुजरते हुए अपने अनुभव में जो हासिल करता है वही उसकी सृजनात्मक ताकत बनती है।

कवि कथाकार संतोष चौबे ने अपनी दोनों आमंत्रित कवियों के मनोगत पर समीक्षात्मक टिप्पणी करते हुए कहा कि विचार और प्रयोग दोनों दृष्टियों से प्रेमशंकर और मोता कविता को बहुत आगे ले जाते हुए दिखाई देते हैं। उन्होंने कहा कि विदेश यात्राएँ हमें भारतीय अस्मिता और गौरव को नजदीक से देखने और चिंतन का बड़ा अवसर देती हैं। हाल ही केंद्रीय साहित्य अकादेमी द्वारा दक्षिण अफ्रीका में आयोजित ''इण्डिया फेस्टिवल'' में कविता पाठ कर भोपाल लौटे चर्चित कवि प्रेमशंकर शुक्ल ने विदेश प्रवास के रोचक संस्मरण सुनाये। उन्होंने कहा कि भारत की आजादी के नायक गांधी को स्मृतियों से आज भी अफ्रीका में बसे भारतवंशी सम्मान और कृतज्ञता से भरे हैं। वे यह भी मानते हैं कि अफ्रीका की आजादी का पहला बीज गांधी ने ही बोया था। अपनी एक कविता में शुक्ल ने कहा कि- ''महात्मा का प्रताप कि भारत की आजादी के पहले, दांडी में आजाद हुआ था नमक''। कार्यक्रम के दूसरे चरण में अनेक साहित्यिक पुरसकारों से सम्मानित कवि सुधीर मोता ने अपनी नयी पुरानी कविताओं 'सुरंग', बरसात के लिए, 'गोपनीय', 'नायक', 'पिता' सहित कई बहुरंगी कविताओं और समाज के मटमैले अहसास भी शुमार थे। मोता से पढ़ा- 'कोई न कोई देखता है हमें हर समय, हमारा कुछ भी नहीं रहा गोपनीय'।

पानी का ज्ञान और विज्ञान बताती पुस्तक

वरिष्ठ पत्रकार पंकज शुक्ला की पुस्तिका 'पानी' का विधिवत लोकार्पण गांधी शांति प्रतिष्ठान के अध्यक्ष और सामाजिक कार्यकर्ता अनुपम मिश्र ने भोपाल में किया। इंस्टीट्यूट ऑफ इंजीनियर्स द्वारा आयोजित कार्यक्रम में छत्तीसगढ़ के राज्यपाल शेखर दत्त मुख्य अतिथि थे। जीव सेवा संस्थान के अध्यक्ष सिद्ध भाऊ, मेपकास्ट के महानिदेशक प्रो. प्रमोद वर्मा विशेष अतिथि थे। इस पुस्तक में पंकज ने समाज और जीवन में पानी की मौजूदगी को रेखांकित करते हुये उसके लगातार कम होने पर चिंता जाहिर की है। पानी की नीतियों और सरकारी रवैये की पड़ताल करती यह पुस्तिका पानी के प्रति अधिक संवेदनशील होने की आवश्यकता बताती है। इसकी भूमिका में पर्यावरणविद अनुपम मिश्र ने लिखा है कि यह छोटी सी पुस्तिका अपने में पूरा संसार समेट लेती है। पानी की तरलता की तरह ही यह सहज ढंग से हमें पानी की गहरी बातों की जानकारी देती है। इसमें पानी का ज्ञान है, पानी का विज्ञान है। यह हमें बताती है कि किस तरह पानी दो छोर को जोड़ सकता है तो यह भी कि किस तरह पानी का उपयोग हम दो छोर तोड़ने में भी करने लगे हैं। बकौल अनुपम मिश्र यूँ तो पानी पर अनेक पुस्तकें हैं लेकिन फिर भी पानी की इस नई बूंद का अलग ही स्वाद है। इस कार्यक्रम में इंस्टीट्यूट ऑफ इंजीनियर्स के प्रमुख विजय जोशी, मुकेश अरोरा, विकास संवाद के सचिन जैन, राकेश दीवान की गरिमामय उपस्थिति रही।

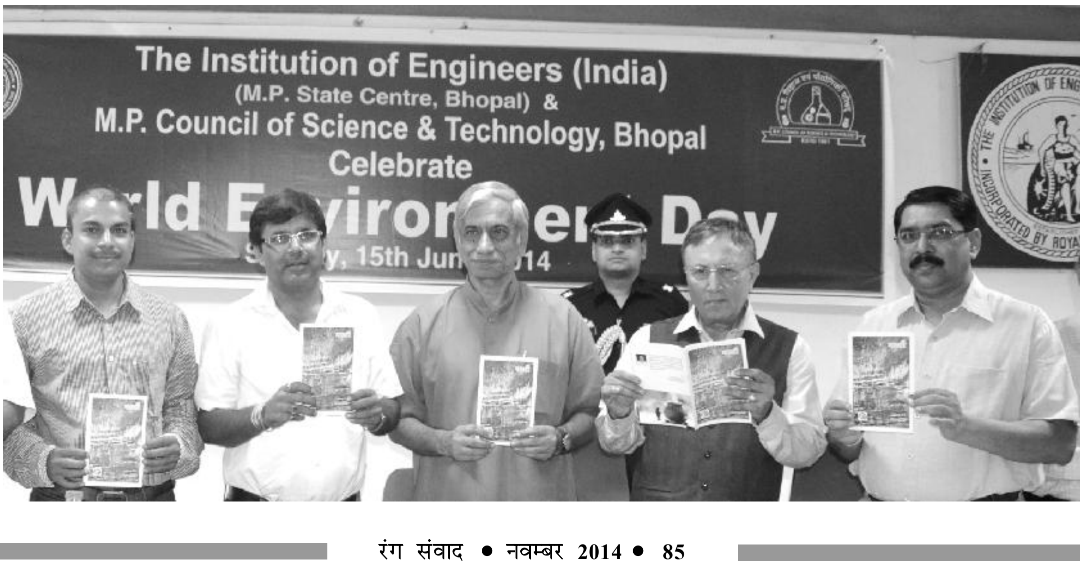

भोपाल में सिनेमाई जलसा

रजत पटल की रंग-बिरंगी दुनिया सिर्फ चकाचौंध का तिलिस्मी ताना-बाना भर नहीं है, सामाजिक सरोकारों को अपने रुपहले आंचल में थामता एक भरोसेमंद रचनात्मक अभियान भी है। सिनेमा की इस चौखट पर जिंदगी की ऐसी ही मुख्तलिफ छवियों का एक लघु संसार अब भोपाल की सरजमीं पर उत्सव की शक्ल में उभरता है। मध्यप्रदेश के प्रशासनिक सूत्रों को थामने वाले अफसरों की बिरादरी ने 'फिल्मोत्सव' के नाम पर सार्थक और कलात्मक सिनेमा के प्रदर्शन का जो सिलसिला करीब डेढ़ दशक पहले शुरू किया था, वह इस दफा ऑस्कर विजेता और इसी दर्जे के लिए होड़ करती चुनिंदा फिल्मों की सौगात बना। 12 से 16 सितंबर के दरमियान राजधानी के रवीन्द्र भवन सभागार में आयोजित इस जलसे में हॉलीवुड और वॉलीवुड की मिली-जुली झलकियों के बीच दर्शकों ने अपने समय के श्रेष्ठ सिनेमाई सृजन का अस्वाद किया। म.प्र. आय.ए.एस. एसोसिएशन द्वारा मध्यप्रदेश माध्यम की साझेदारी में रचे-बुने इस आयोजन में हर बार की तरह आकर्षण के कई पहलू नुमाया हुए। इस समारोह का संचालन विनय उपाध्याय ने किया।

पावस की सुहानी छटाओं से दिलकश झीलों, पहाड़ियों की नगरी में फिल्मोत्सव का आगाज करने खासतौर पर मशहूर फिल्म अभिनेत्री रानी मुखर्जी चोपड़ा तशरीफ लायीं। दिलचस्प संयोग है कि हाल ही सिमाघरों में प्रदर्शित फिल्म 'मर्दानी' में एक ईमानदार साहसी और नैतिकता की हिमायती महिला पुलिस अफसर की चुनौतीपूर्ण भूमिका के लिए रानी की देश-विदेश में बेहिसाब प्रशंसा हुई है। उनके प्रशंसकों में मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान भी हैं। जिन्होंने भोपाल के छविगृह में अपने परिवार के साथ यह फिल्म देखी थी और पटकथा निर्देशन तथा रानी मुखर्जी के अभिनय की सराहना करते हुए म.प्र. में इस फिल्म को मनोरंजन कर से मुक्त करने की घोषणा की थी। समारोह की उद्घाटन फिल्म के रूप में आयोजन समिति ने 'मर्दानी' का ही चयन किया।

हिन्दी के पक्ष में नई हिलोर

हिन्दी भारत के भाल की बिंदी है। हमारा स्वाभिमान, हमारे जातीय गौरव, हमारी सांस्कृतिक अस्मिता का प्रतीक है। तमाम कुंठाओं और पूर्वाग्रह से बाहर निकलकर हमें अपनी भाषा की रक्षा और सम्मान के पक्ष मे अगुणा होने की आवश्यकता है। मध्यप्रदेश पहला ऐसा राज्य होगा जहाँ राजकाज से लेकर सामाजिक-सांस्कृतिक सरोकारों तक हिन्दी की पुनः प्रतिष्ठा का एक महत्वाकांक्षी अभियान शुरू होगा।

हिन्दी के यशोगान और दिन-ब-दिन सिमटती उसकी सत्ता को लौटाने की फर्ज अदायगी का यह संकल्प भरा स्वर चौदह सितंबर की शाम भोपाल के शहीद भवन की चार दीवारी में सुनाई दिया। साहित्यकारों, हिन्दी सेवियों और अध्यापक बिरादरी के बीच मध्यप्रदेश के सियासी मुखिया शिवराज सिंह चौहान ढलती शाम के वक्त हिन्दी के पक्ष में पुरजोर आवाज लगा रहे थे राज्य के संस्कृति महकमे और अटल बिहारी वाजपेयी हिन्दी विश्वविद्यालय की सूझ-बूझ से आयोजित 'हिन्दी पर्व' का यह गरिमामय अनुष्ठान निश्चय ही तमाम निराशाओं के बीच आत्मविश्वास की नई पुलस लगाने वाला मंच था। 'हिन्दी दिवस' के निमित्त रचा यह समारोह कर्मकांडी औपचारिकता के दायरों से कहीं बहुत आगे मध्यप्रदेश में नए रचनात्मक प्रकल्पनों की पीठिका भी बना। इस अवसर पर मुख्यमंत्री ने विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी के प्रयोग को लेकर किये गये बेहतर प्रयासों के लिए लेखकों, चिकित्सकों, वैज्ञानिकों और मीडियाकर्मियों तथा संस्थाओं को सम्मानित किया जिनमें राजकुमार बंसल, डॉ. मुनेश्वर गुप्ता, डॉ. मनोहर भंडारी, ओमप्रकाश श्रीवास्तव, ब्रजकिशोर कुठियाला, विनय छझजलानी (वेबदुनिया) आदि शामिल थे। समारोह को मुख्यमंत्री सहित उच्च शिक्षा मंत्री उमाशंकर गुप्ता, संस्कृति मंत्री सुरेन्द्र पटवा, प्रमुख सचिव संस्कृति मनोज श्रीवास्तव, हिन्दी विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. मोहनलाल छीपा और म.प्र. साहित्य अकादेमी के निदेशक प्रो. त्रिभुवननाथ शुक्ला ने भी संबोधित किया। संगीत मनीषी पंडित किरण देशपाण्डे द्वारा स्वरबद्ध 'वाणी-वंदना' के सुमधुर मंगल गान से 'हिन्दी पर्व' का शुभारंभ हुआ। साहित्य अकादेमी द्वारा मध्यप्रदेश की बोलियों के साहित्य और संस्कृति पर हुए शोधग्रंथों का लोकार्पण भी किया गया। समारोह का गरिमामय संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने और आभार भारत भवन के मुख्य प्रशासनिक अधिकारी कवि प्रेमशंकर शुक्ल ने व्यक्त किया। उन्होंने घोषणा की कि राजभाषा विभाग को पुनर्जीवित किया जाएगा। हिन्दी दिवस १४ सितम्बर पर हिन्दी की सेवा करने वालों को पुरस्कृत किया जाएगा। विश्व-स्तरीय कार्यक्रम का आयोजन भोपाल में किया जाएगा, जिसमें पांच श्रेणी में हिन्दी की सेवा करने वालों को प्रतिवर्ष पुरस्कृत किया जाएगा।

निर्मल वर्मा पुरस्कार ऐसे अप्रभावी भारतीयों को दिया जाएगा, जो विदेश में हिन्दी के विकास में योगदान कर रहे हैं। फादर कामिल बुल्के पुरस्कार विदेशी मूल के ऐसे व्यक्ति दिया जाएगा, जो हिन्दी भाषा और बोली के विकास में योगदान दे रहे हैं। गुणाकर मुळे पुरस्कार हिन्दी में वैज्ञानिक, तकनीकी लेखन और पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण के लिए दिया जाएगा। हिन्दी सूचना प्रौद्योगिकी पुरस्कार हिन्दी में सॉफ्टवेयर, सर्च इंजन, वेब डिजाइनिंग, डिजिटल भाषा आदि के लिए दिया जाएगा। हिन्दी सेवा पुरस्कार अहिन्दी भाषी लेखकों और साहित्यकारों को दिया जाएगा।

स्वाभाविक ही रानी मुखर्जी शुभारंभ क्षणों की केन्द्रीय आभा बनीं। भारतीय नारी के पारंपरिक परिधान साड़ी, वेणी-जूड़े और मोतियों की माला से विभूषित इस सितारा अभिनेत्री के चेहरे पर उभरती सौम्य मुस्कान और सादगी ने सभागार में उपस्थित हर दर्शक को अपना मुरीद बना लिया। शिवराज सिंह चौहान, जनसंपर्क मंत्री राजेन्द्र शुक्ल, संस्कृति-पर्यटन मंत्री सुरेन्द्र पटवा, नेता प्रतिपक्ष सत्यदेव कटारे, मुख्य सचिव एंटनी डिसा सुप्रसिद्ध कोरियोग्राफर वैभवी मर्चेंट और म.प्र. आय.ए.एस. एसोसियेशन की अध्यक्ष अरुणा शर्मा ने रानी के साथ दीप प्रज्जवलित कर फिल्मोत्सव का औपचारिक शुभारंभ किया। अपने स्वागत भाषण में शर्मा ने एसोसिएशन की इस सिने-पहल को एक जरूरी सामाजिक हस्तक्षेप बताया। उन्होंने बताया कि हमेशा ही एक खास नजरिया इस फेस्टिवल में शामिल फिलमों के चुनाव में रहता आया है। अरुणाजी के इस वक्तव्य को सुप्रमाणित करती एक बहुरंगी स्मारिका का विमोचन भी मुख्यमंत्री तथा रानी मुखर्जी ने किया जिसका संयोजन, संपादन तथा प्रकाशन मध्यप्रदेश माध्यम ने किया है। भारतीय सिनेमा से जुड़ी शख्सियतों, विषयों और संदर्भों का महत्वपूर्ण लेखा-जोखा इस स्मारिका की खासियत है। एक और गतिविधि ने दर्शकों का ध्यान खींचा जब रानी मुखर्जी की उपस्थिति में उनकी कामयाबी का मुसलसल कारवाँ प्रोजेक्टर पर चलते छाया-चित्रों के कोलाज के जरिये रोशन हुआ। समारोह का संचालन कर रहे कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने इस प्रदर्शन की संगत में रानी की जीवन यात्रा पर प्रकाश डाला।

मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान ने रानी की भोपाल के इस जलसे में आमद का दिली स्वागत किया। उन्होंने कहा कि वे 'मर्दानी' फिल्म में रानी की भूमिका से बहुत गहरे अभिभूत हैं। उन्होंने इस तारतम्य में फिल्म 'ब्लेक' का जिक्र भी किया जिसमें रानी मुखर्जी ने एक निःशक्त लड़की का किरदार निभाया था। भोपाल प्रवास के दौरान सुश्री रानी मुखर्जी के स्नेहिल व्यवहार और उनकी सहजता के कायल श्री चौहान ने उन्हें 'भानजी' के आत्मीय संबोधन से पुकारा तो प्रत्युत्तर, में रानी ने भी मुख्यमंत्री को 'मामा' कहकर प्रेमिल रिश्ते की गाँठ बांधी। मुख्यमंत्री, आयोजकों और भोपाल के दर्शकों की छलकती आत्मीयता से मुग्ध रानी ने कहा कि वे 'मर्दानी' के मुद्दे को एक मुहिम मानकर आजीवन उससे जुड़ी रहेंगी। उन्होंने भोपाल में मुख्यमंत्री की ओर से की गई मेजवानी का जिक्र करते हुए कहा कि शिवराज सिंह चौहान में मुझे माँ की झलक देखने मिलती है। उनके मन में बेटियों के प्रति बहुत कुछ करने का जज्बा है।

राजधानी के मीडिया से बातचीत के दौरान मुखर्जी ने अपने सपनों और संघर्षों को याद किया। कहा कि फिल्म इंडस्ट्री में हर दिन संघर्षों का है। जब मुझे पहला ब्रेक मलिा तब मैं एक्टिंग नहीं करना चाहती थी, लेकिन मेरी माँ की इच्छा थी कि मैं एक्ट्रेस बनूँ। उन्होंने मेरा मनोबल बढ़ाया जबकि पिता मेरे इस फैसले के खिलाफ थे। रानी ने एक सवाल के जवाब में कहा कि मैं सोलह साल की उम्र से ही फिल्मों में सक्रिय हूँ। कैमरे के सामने पहला शॉट देते हुए ही जैसे मेरे भीतर से आवाज आयी- ''एक्टिंग के लिए मेरा जन्म हुआ है।'' कई फिल्में मैंने कीं लेकिन हर दिन यादगार है। व्यावसायिक होते जा रहे सिनेमा का हिस्सा बनते हुए कैसा लगता है? मुखर्जी ने जवाब दिया कि उन्हें भीड़ का हिस्सा नहीं बनना है। मुझे महत्वपूर्ण किरदार ही निभाना है।

समारोह के आरंभ में प्रमुख सचिव जनसंपर्क श्री एस.के. मिश्रा, आय.ए.एस एसोसिएशन के उपाध्यक्ष श्री अशोक वर्णवाल, आयुक्त नगर नगिम भोपाल श्री तेजस्वी नायक, अतिरिक्त मिशन संचालक राज्य शिक्षा केन्द्र श्री ईलिया राजा, लोक सेवा प्रबंधन की कार्यकारी निदेशक सुश्री स्वाती नायक और संचालक संस्कृति श्रीमती रेणु तिवारी ने अतिथियों का स्वागत किया। आभार एसोसिएशन के सचिव श्री नितेश व्यास ने व्यक्त किया।

हिन्दी के वरिष्ठ गीतकार और गीतधर्मी साहित्य पत्रिका 'संकल्प रथ' के संपादक राम अधीर को ग्वालियर में आयोजित समारोह में मुकुट बिहारी सरोज स्मृति सम्मान से विभूषित किया गया।

मंजूर के कथा साहित्य पर चर्चा

ललित कलाओं के लिए समर्पित भोपाल की स्पंदन संस्था की ओर से स्वराज भवन में मंजूर एहतेशाम का कथा संसार विषय पर विचार संगोष्ठि आयोजित की गई। कार्यक्रम की अध्यक्षता वरिष्ठ कथाकार शशांक ने की तथा उनकी कृतियों पर कथाकार मुकेश वर्मा, ओम भारती, उर्मिला शिरीष, वंदना राग तथा अरुणेश शुक्ला ने वक्तव्य दिये। मुकेश वर्मा ने कहा कि ''सूखा बरगद'' चर्चित उपन्यास रहा है जिसने मंजूर को ख्याति दिलवाई। उपन्यास में मुस्लिम मध्यमवर्गीय युवा समाज की छटपटाहट को दर्शाया गया जबकि 'कुछ दिन और' का विषय दाम्पत्य जीवन है। कथाकार उर्मिला शिरीष ने कहा कि मंजूर एहतेशाम की कहानियाँ पढ़ते हुये हम किसी एक विशेष परिवेश में प्रवेश करते हैं जहाँ उनके पात्र, उनका संसार तथा उस संसार को शब्द देने वाली कथा हमारे भीतर जीवित होती जाती है।

युवा कथाकार वंदना राग ने कहा कि 'बशारत मंजिल' बहुत बड़े फलक का उपन्यास है, गदर से लेकर आजादी मिलने तक का खूबसूरत और प्रामाणिक वर्णन है। इतिहास से पात्र मुठभेड़ करते हुये आगे बढ़ते हैं। बड़े-बड़े आंदोलन हैं जो उस समय गांधी जी द्वारा चलाये जा रहे थे। शशांक ने कहा कि मंजूर एहतेशाम के उपन्यासों में भारतीय मुसलमान अपनी अस्मिता की पहचान के लिए निरन्तर संघर्षरत रहते हैं। वे अपने उन नेताओं को भी पहचानते हैं जिनके लिये मजहब धंधा है जैसे- जूते बेचना। ओम भारती तथा अरुणेश शुक्ला ने उनकी कृतियों पर वक्तव्य दिये।

रंग परसाई

विवेचना रंग मण्डल जबलपुर द्वारा 'रंग परसाई' 2014 राष्ट्रीय नाट्य समारोह प्रेक्षागृह तरंग में आयोजित किया गया। मध्यप्रदेश पावर मैनेजमेन्ट कम्पनी, केन्द्रीय क्रीड़ा कला परिषद के संयुक्त तत्वाधान में आयोजित यह आयोजन दर्शकों के अभूतपूर्व उत्साह से अत्यंत सफल रहा। आयोजक संस्था विवेचना रंग मण्डल के कलाकारों ने विजय तेन्दुलकर की कालजयी रचना 'खामोश अदालत जारी है' का मंचन पहले दिन किया। निर्देशन प्रगति विवेक पाण्डेय ने किया था जिसका

पार्श्व संगीत सचिन उपाध्याय का था और इसकी प्रकाश परिकल्पना अनूप जोशी 'बन्टी' भोपाल ने की थी। चिल्ड्रेन थिएटर अकादमी भोपाल द्वारा नाग बोडस का नाटक 'खूबसूरत बहू' का मंचन वैशाली गुप्ता के निर्देशन में हुआ। 35 बच्चों द्वारा की गयी इस प्रस्तुति में नाटक के हर पक्ष के दर्शन हुए। नृत्य, गीत और अभिनय के रंग में रंगी इस प्रस्तुति को दर्शकों का भरपूर प्यार मिला। पूर्व रंग में केन्द्रीय विद्यालय जी.सी.एफ.-1 के 35 बच्चों ने राग तोड़ी पर आधारित गायन प्रस्तुत कर दर्शकों को अभिभूत कर दिया।

'राग पटना' द्वारा नाटक प्रस्तावना का मंचन किया। राजेश चन्द्रा के आलेख को दिल्ली के टीकम जोशी ने अभिनीत किया। निर्देशक थे रणधीर कुमार। पूर्व रंग में पवन करण के गीतों को अनिमेश तिवारी के संगीत संयोजन में विवेचना रंग मंडल के कलाकारों ने प्रस्तुत किया। इसके साथ ही डॉ. सुयोग पाठक के संगीत निर्देशन में भगवत रावत और गुलजार की कविताएँ प्रस्तुत की गईं। 'अदाकार' भोपाल ने फर्रुख शेर खान के निर्देशन में 'खाला कमाल की' नाटक का मंचन किया। नाटक रफी शब्बीर ने लिखा है। भोपाली तहजीब और जबान में रची गई रचना ने दर्शकों को जहाँ ठहाके लगाने पर मजबूर किया वहीं खाला के अभिनय ने अंत में उन्हें रोने और सिसकने पर मजबूर कर दिया। पूर्व रंग में रांची, झारखण्ड से आये दिनकर शर्मा ने कहानी टिकटों का संग्रह का मंचन किया। 'अल्टरनेटिव थिएटर ग्रुप' कोलकाता ने एन अनदर रैन्बो का मंचन किया। प्रोबीर गुहा ने इसका निर्देशन किया था। देह गतियों और चाक्षुष रंग प्रयोगों के चलते इस प्रस्तुति ने दर्शकों को गहरे चिंतन में डाल दिया। देश की ज्वलंत समस्याओं और राजनेताओं की प्रवृत्तियों पर किए गये गंभीर कटाक्ष प्रस्तुति की विशेषता थी। पूर्व रंग में अंतर विश्वविद्यालयीन नाटक प्रतियोगिता में विजयी प्रस्तुति श्मशान महापर्व का मंचन एम.आई.एम.टी. महाविद्यालय, नरसिंहपुर के छात्र छात्राओं ने किया। महाभारत की पृष्ठभूमि में रची कथा को प्रवीण नामदेव व मनीष तिवारी ने निर्देशित किया था। प्रोबीर गुहा को विवेचना रंग मण्डल का राष्ट्रीय रंग सम्मान प्रदान किया गया।

समापन के अवसर पर विद्युत मण्डल के 20 कर्मचारियों को विवेचना द्वारा उपहार प्रदान किये गये। समारोह का संचालन सूरज राय सूरज ने किया और आभार प्रदर्शन विवेचना रंग मण्डल के सचिव आशुतोष द्विवेदी ने किया। दर्शकों को रंग परसाई 2014 की स्मारिका वितरित की गई जिसका सम्पादन पंकज स्वामी गुलुश ने किया था। उद्घाटन के अवसर पर अरुण पाण्डेय द्वारा सम्पादित गुरू परसाई के व्यंग्यबांण पुस्तक का विमोचन प्रख्यात कथाकार डॉ. ज्ञानरंजन, राजेन्द्र तिवारी आदि ने किया। इस दौरान दिनकर शर्मा ने कहानी पाठ कला पर विनय अम्बर ने चित्रकला और गजनीश वैद्य ने मंच प्रबंधन पर अपने युवा रंगकर्मियों के समक्ष मन्तव्य व्यक्त किया।

'पिंजरा पानी का'

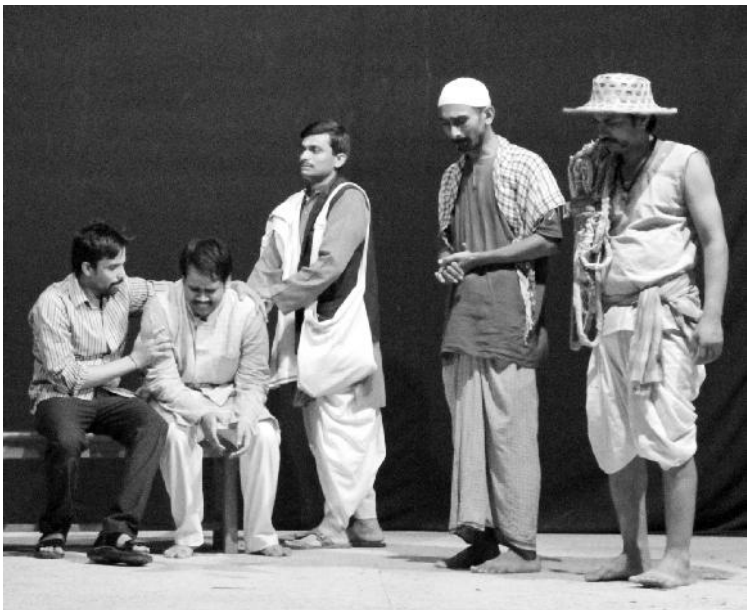

समय की अभिव्यक्ति जब विविध कला रूपों में होती है तो समय खुद व खुद अपनी कहानी कहने लगता है, जिससे जीवन की यथार्थता एवं सजीवता के भावार्थ स्पष्ट हो जाते हैं। कला का हर रूप सुंदर होता है क्योंकि कला के हर रूप से प्रेम और संवेदनाएँ संप्रेषित होती हैं। कलाकार की अभिव्यक्ति ही कला के प्रकार को भाकर बनाती है। रंगमंच द्वारा नाट्यकला की अभिव्यक्ति कला की समग्रता को प्रदर्शित करती है।

मध्यप्रदेश में एक छोटी सी जगह है रीवा। जो कि विन्ध्य क्षेत्र में आती है यह क्षेत्र कला और लोक संस्कृति से समृद्ध रहा है। रीरा में रंगमंच की विरासत का निश्चित आकलन करना मुश्किल है लेकिन ये सुखद ही है कि हिन्दी भाषा का पहला नाटक आनन्द रघुनन्दन रीवा महाराज विश्वनाथ सिंह द्वारा रचा गया। रीवा की पहली नाट्य संस्था ''प्रयास'' द्वारा सन् 1980 से नरिंतर नाटकों के मंचन किये जाते रहे हैं। 34 वर्षों से निरंतर कलाकर्म को समृद्ध बनाने का प्रयास ''प्रयास'' द्वारा किया जाता रहा है। 9 अगस्त 2014 को रीवा स्थित सैनिक स्कूल के सभागार में बघेली बोली के पहले नाटककार हीरेन्द्र सिंह द्वारा लिखित और निर्देशित 'पिंजरा पानी का' हिन्दी नाटक का मंचन किया गया। यह नाटक समय के परिप्रेक्ष्य में समाज की स्थितियों को उजागर करता है। भूत और वर्तमान की बातों के साथ ही साथ भविष्य की संभावनाओं की ओर भी इंगित करता है और समाज के एक ऐसे अंग की बात करता है जिन्हें हम विस्थापित कहते हैं। पिंजरा पानी का बड़े बाँधों के चलते विस्थापितों की करुण गाथा को अभिव्यक्त करता हुआ नाटक है।

जिंदगी में अगर हँसी के अबाध फौआरे न हों तो जीवन नीरस लगने लगता है, लेकिन जबरन विकास के नाम पर लोगों पर जब आदेश थोपे जाते हैं तो लोगों की हँसी में जैसे ताले से लग जाते हैं, उत्सव जैसा माहौल, विविध संस्कृतियाँ और कलाओं सहित बहुत कुछ खत्म हो जाता है। इस नाटक का नायक समर रंगमंच की दुनिया में अपना नाम बना चुकने के बाद दुर्घटनावश अपना चेहरा खो देता है और चेहरा खोते ही प्रेमिका द्वारा धोखा दिये जाने से आहत होकर निराश की गर्त में चला जाता है। अंततः प्रेम का आधार पाकर वह एक योद्धा की तरह अपने दायित्व बोध के प्रति जागृत होता है और विस्थापित हो चुके लोगों का हौसला बनकर उभरता है।

यह नाटक कला के औचित्य को भी प्रभाी ढंग से प्रस्तुत करता है, कि आखिर एक कलाकार किस तरह से अपनी परिस्थितियों का सामना करके खुद को रचनात्मक कार्य के लिये तटस्थ बना पाता है। यह नाटक प्रकृति संरक्षण और संवर्धन की भी बात करता

है और विद्रूपताओं को भी दिखाता है कि किस तरह सड़क निर्माण के नाम पर बड़े वृक्षों को काटकर उनकी जगह झाड़ियाँ लगाकर हमारे दूरदर्शी निर्णायक अपने दायित्वों का निर्वाह करते हैं। बाँध विस्थापितों की आंतरिक टीस को उजागर करता हुआ यह नाटक विस्थापितों के जीवन के विभिन्न पहलुओं को उभारते हुए उनके साथ हुए छल और निर्ममता को भी बेबाक तरीके से उजागर करता है।

इस नाटक की भाषा पात्रानुकूल है, इसमें हिन्दी के साथ ही उर्दू की नज्मों का भी प्रयोग सटीक और सुन्दर हुआ है। नाटक में फंतासी का प्रयोग दिलचस्प तरीके से किया गया है, जिसमें दो बच्चे उड़नतश्तरियों के माध्यम से दूसरे ग्रहों के सैर की बातें करते हैं। नाटक में हायकू के प्रयोगों से संवाद और भी सुंदर होते गए हैं। चूँकि हायकू के माध्यम से कम में ज्यादा कहा जाता है इसी के चलते हायकू के प्रयोगों से कथानक को गति भी मिली है। वहीं दूसरी ओर विंध्य क्षेत्र के आंचलिक लोक गीत 'टप्पा' का नाटकों में पहली बार प्रयोग करके नाटक को पारम्परिक रूप भी प्रदान किया गया है। ये टप्पे जहाँ मनोरंजन करते हैं वहीं दूसरी ओर हमें सूक्ष्म जीवन दर्शन भी देते हैं- चले जाते हय, भगे जाते हय/दुनिया के रंग मा रँगे जाते हय।

यह नाटक रीवा के समीप स्थित रामनगर के डूब में आने की स्थितियों को आधार बनाकर लिखा गया है। चूँकि हीरेन्द्र द्वारा रामनगर के विस्थापितों की डूब के पहले से लेकर डूब में आने और बाद की स्थितियों को देखा परखा गया इसी कारण नाटक तथ्यात्मक भी है और प्रामाणिक भी। यह विविध आयामी नाटक है, इसके फलक विस्तृत है जिसमें प्रेम की महत्ता को आदर्श रूप में प्रस्तुत विविध आयामी नाटक है, इसके फलक विस्तृत जिसमें प्रेम की महत्ता को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक में नायिका अनुजा का किरदार सौम्या गुप्ता ने अपने अभिनय से रंगमंच के कैनवास पर संतुलित रंग भरे हैं, उनका अभिनय इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि उन्होंने इसी नाटक से रंगमंच की दुनिया में पदार्पण किया है। वहीं राज तिवारी भोला ने लोक नर्तन के अद्‌भुत नृत्य कौशल से मंच को साध लिया।

- अनीश शुक्ल 'मनू'

'भगवद्ज्जुकम' : यथार्थ से साक्षात्कार

दो दिवसीय नाट्य समारोह में हरदा के रंगकर्मियों ने काल्पनिक कथा पर आधारित नाटक 'भगवद्ज्जुकम' की प्रस्तुति दी। पॉलीटेक्निक सभागार में इनटेलेक्चुअल पब्लिक वेलफेयर एंड ट्रेनिंग फॉर आर्ट सोसाइटी के आठवें नाट्य समारोह में काफी दर्शकों ने अपनी आमद दर्ज की और नाटक के तमाम पक्षों के प्रति अपना गहरा रुझान दिखाया। दर्शकों का यह प्रतिसाद इस बात की पुष्टि करता है कि नाटक को समाज की और समाज को नाटक की जरूरत हमेशा बनी हुई है। सहयोग म.प्र. संस्कृति संचालनालय, नगरपालिका परिषद् और पिनेकल का था।

नाटक के जरिए समाज में व्याप्त मिथक को बड़ी ही खूबसूरती से प्रस्तुत किया गया। कथानक के अनुसार आधुनिक जीवन वृत्ति के साथ-साथ हमने आसपास एक झूठा संसार रच लिया है। मिथकों से बाहर नहीं आ पा रहे हैं। इन्हीं मिथकों को आधार बनाकर नाटक की घटनाओं द्वारा यथार्थ से साक्षात्कार कराने की कोशिश की गई। पात्रों की संवाद अदायगी और प्रकाश परिकल्पना नाटक के देशकाल और विषय वस्तु के काफी अनुकूल थी। संस्कृत क्लासिक की इस सहज प्रस्तुति ने निर्देशक की अनेक संभावनाओं का द्वार खोला भगवद्ज्जुकम की परिकल्पना व निर्देशन संजय तेनगुरिया कर रहे थे। वे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय दिल्ली की रंग कार्यशाला से जुड़े फिर 15 से अधिक नाटकों का निर्देशन और 25 नाटकों में अभिनय किया।

मंच पर इरशाद खान, वीरेंद्र पंचोली, छोटू बिल्लौरे, शिवाली सिलार, काजल ताड़े, निकिता बंसल, अतुल जोशी, सुरेंद्र राजपूत, आशीष बिल्लौरे, सुनीता जैन, राजदा खान, सुरेंद्र चौहान, शिम्पी विश्वकर्मा व मनोज विश्वकर्मा नज़र आए। मंच परे संगीत जय पुजारी व मदन व्यास का व गीत श्रुति के थे। नृत्य संरचना अंतिमा, दांगड़ा जाट ने की। मंच व्यवस्था ओम मोरछले, सुनील तिवारी ने की। वस्त्र विन्यास अर्चना भैसारे, वर्षा, रितु, प्रीति पटेल ने किया। मंच सामग्री मयंक राजवैद्य, संदीप काशिव, प्रकाश संयोजन सौरभ तिवारी व संजय श्रोत्रिय का और ध्वनि संयोजन सुमेष जोशी का था।

रंगभूमि पर टंट्या की हुंकार

1857 की क्रांति में अनेक जांबाज रणबाँकुरे हुए जिनके बारे में हमने पढ़ा या सुना है। लेकिन कुछ ऐसे भी आजादी के दीवाने थे जिनकी लड़ाई छोटे-छोटे गाँव-कस्बों से आरम्भ हुई और वे अंग्रेजी सिपाहियों की आँख की किरकिरे बने रहे।

ऐसा ही एक जनयोद्धा था टंट्या। राबिन हुड टंट्या जिसने निमाड़ की माटी में जन्म लिया और देशवासियों की भलाई के लिए काम किया और जीवन के अन्तिम क्षणों तक अंग्रेजी सिपाहियों की आँख की किरकरी बना रहा। टंट्या को रेजीडेंट ग्रिफीन द्वारा राबिन हुड टंट्या की उपाधि दी गई। पिछले दिनों शहीद भवन भोपाल में राबिन हुड टंट्या के जीवन पर आधारित नाट्य प्रस्तुति लोक गुंजन संस्था द्वारा दी गई। लेखक जगदीश जोशीला के मूल आलेख 'जननायक टंट्या मामा का नाट्य रूपान्तरण निमाड़ी साहित्यकार बसंत निरगुणे द्वारा किया गया। 70 मिनट की इस प्रस्तुति के निर्देशक थे युवा रंगकर्मी प्रवीण चौबे। निमाड़ी वेशभूषा और निमाड़ी बोली के साथ सहज अभिनय करते हुए कलाकार एवं गीत-संगीत ने मानो मंच पर निमाड़ अंचल की झाँकी प्रस्तुत कर दी हो। अंचल की मिट्टी की खुशबू बिखेरते हुए भगोरिया नृत्य के साथ नाटक की शुरुआत हुई। टंट्या भील की खोज में निकले सिपाही नृत्य को बीच में रोक देते हैं लेकिन टंट्या सबकी आँखों में धूल झोंकते हुए भाग जाता है। नाटक में गाँव के जागीरदार की बेटी के साथ प्रेम प्रसंग को भी दिखाया जाता है। अंत में सेना धोखे से टंट्या को गिरफ्तार कर लेती है और उसे फाँसी की सजा दी जाती है। नाटक में स्वतंत्रता संग्राम के आदिवासी नायक टंट्या मामा के जीवन के अनेक पहलुओं को दर्शाया गया है।

नाटक के निर्देशक कहते हैं कि मैं मूलतः निमाड़ अंचल के महेश्वर का निवासी हूँ और संयोग से टंट्या भी। टंट्या पर रंगमंच एवं फिल्म के माध्यम से सराहनीय कार्य हुआ है किन्तु मेरे मस्तिष्क पर टंट्या की तस्वीर सदैव निमाड़ी लोक नायक और आदिवासी हीरो की तरह ही उभरी है। मैंने निमाड़ आदिवासी लोक संस्कृति गीत, संगीत, परिवेश एवं पृष्ठ भूमि को ध्यान में रखते हुए ही नाटक को आकार देने का प्रयास किया है। प्रस्तुति में टंट्या के रूप में रंगकर्मी राजकमल ने भावपूर्ण अभिनय किया, निर्देशक प्रवीण चौबे ने भी मोटला पात्र के रूप में सूत्रधार की भूमिका निभायी। इसके अतिरिक्त अपूर्वा, संतोष सुमन; अनिल पवार, रूपेश तिवारी, ऋषण शर्मा प्रमुख रूप से थे।

भुवनेश को बिस्मिल्ला खाँ पुरस्कार

संगीत नाटक-अकादमी, दिल्ली ने बिस्मिल्ला खाँ युवा पुरस्कार 2012 हेतु देशभर के 33 प्रतिभावान कलाकारों के नामों की घोषणा की है। देवास के युवा प्रतिभावान गायक भुवनेश कोमकली का इस सम्मान हेतु चयन हुआ है। गायन श्रेणी में 'हिन्दुस्तानी गायन' से अकादमी ने इन्हें पुरस्कार के लिए चुना है। भुवनेश, भारतीय शास्त्रीय संगीत के पुरोधा पंडित कुमार गंधर्व के पौत्र हैं एवं विख्यात गायक पंडित मुकुल शिवपुत्र के पुत्र हैं।

सम्मानित हुईं विभूतियाँ

विश्व भोजपुरी उत्थान कल्याण समाज की ओर से भोजपुरी की पाँच विभूतियों को सम्मानित किया गया। हावड़ा में आयोजित भोजपुरी फेस्टिवल 2014 में विख्यात भोजपुरी गायिका पद्मश्री शारदा सिन्हा को महेन्द्र मिश्र सम्मान, कालिदास के संस्कृत काव्य 'मेघदूत' के हिन्दी व अंग्रेजी नीति-नाट्य रूपांतरकार मृत्युंजय कुमार सिंह को भिखारी ठाकुर सम्मान, भोजपुरी फिल्म निर्माता शशिधर सिंह को नजीर हुसैन सम्मान प्रदान किया गया।

कौतुक सम्मानित

वरिष्ठ साहित्यकार सदाशिव कौतुक को निमाड़ी के संवर्धन में महत्वपूर्ण योगदान पर मालवा लोक कला एवं संस्कृति संस्थान, उज्जैन द्वारा 27वां प्रतिष्ठित भेराजी सम्मान प्रदान किया गया। डॉ. हरीश प्रधान, डॉ. प्रभातकुमार भट्टाचार्य, डॉ. शिव चौरसिया, वेदप्रकाश आर्य, श्रीराम दवे एवं संस्थान के अध्यक्ष डॉ. हरीश कुमार सिंह ने सम्मानित किया।

निर्देशकीय कौशल के तीन रंग

भीष्म साहनी स्मृति नाट्य समारोह

भोपाल के रंग समूह कारवाँ का भीष्म साहनी स्मृति नाट्य समारोह इस वर्ष वरिष्ठ रंगकर्मी मो. नज़ीर क़ुरैशी निर्देशित तीन नाटकों पर एकाग्र रहा। ये नाटक थे - 'अभी मानव ज़िंदा है', 'अग्नि बरखा' और 'मत्स्यगंधा'। 16 से 19 जून के दरमियान अच्छी-खासी तादाद में दर्शक भारत भवन आए और नजीर की रचनाशीलता के मुख्तलिफ रंगों से वाकिफ हुए। पहली और आखिरी दिन की प्रस्तुतियाँ विशेष रूप से सराही गईं, जबकि गिरीश कर्नाड लिखत बहुचर्चित जटिल कथानक को बेहतर ढंक से पेश किया गया। गीत-संगीत, वेशभूषा, रूपसज्जा और मंच पार्श्व के सुंदर संयोजन के लिए भी नजीर की तारीफ की जा सकती है।

समारोह की शुरुआत प्रभाकर लक्ष्मण मयेकर द्वारा लिखित मूल नाटक 'अथ मनुस जगन ह' के परिवर्तित नाम 'अभी मानव जिंदा है' की प्रस्तुति हुई। बरमुडा ट्रेंगल की तलाश में निकले समुद्री फौजियों की एक टुकड़ी दुर्भाग्यवश किसी अज्ञात टापू पर जा फँसती है। वहाँ जंगल में रहने वाले आदिवासियों से उनका साबका पड़ता है। सभ्य और आधुनिक कहलाने वाले लोगों को बेनकाब करता ये नाटक मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है और इसका लिखा मेरा गीत- 'इनके जिसमों में भी, तुम्हारे जैसा खून है' इसकी गवाही देता है। गोरा कैप्टन (उबेदुल्लाह खान), कुक (विवेक मृदुल), बॉब (हाशिम खालिद), डिंकी (सैफू खान), माइक (अमन अली) और डॉ. अफी (दिनेश नायर) के बीच तीखे संवादों, वैचारिक मतभेदों और नाटकीय घटनाक्रमों से दो-चार होता नाटक भोले-भाले आदिवासियों की जमीन हथियाने और उनकी संस्कृति को तहस-नहस करने जैसे सामयिक प्रश्नों पर भी हाथ रखता है। जंगल के निवासियों का प्रतिनिधित्व कर रहे कलाकारों में जागुरा (परवेज खान), अम्ब्रुजा (ज्योति सावरीकर), शाकुरा (मनोज भामा), तांत्रिक (भूपेन्द्र साकल्ले) आदि के दमदार चरित्रों और उनके द्वारा बोली जाने वाली एक 'अनजान बोली' के चुंबकीय आकर्षण के कारण दर्शक अंत तक प्रस्तुति से एकरूप रहता है।

प्रभात राज निगम की रूपसज्जा, रामबाबू पाटनकर की प्रकाश योजना और ज्योति सावरीकर की वेशभूषा अत्यंत आकर्षक थी। संजय भोसकर और दिनेश नायर ने मिट्टी, गेरू, टाटपट्टी, बोरी, बाँस जैसी साधारण चीजों से जंगल के बैकड्राप को प्रभावी ढंग से उभारा। जंगली नृत्य- ''देदा रे दे दा, झीनिया माका, झीनिया माका'' में ज्योति के साथ भावना श्रीवास्तव, प्रिया साहू, अंजली मेरावी, प्रदीप नेमा आदि कलाकारों ने भी खूब धूम मचाई।

सत्र जून की शाम 'अग्निबरखा' नाटक में गंभीर कथावस्तु को पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करने की निर्देशक नज़ीर क़ुरैशी की हिम्मत को सभी ने सराहा। पौराणिक आख्यायिकाओं के माध्यम से तत्कालीन और समसामयिक विसंगतियों को उभारने में गिरीश कर्नाड का कोई सानी नहीं। 'हयवदन' और 'नाग मंडल' में भी वे अपनी ऐसी प्रतिभा का प्रदर्शन कर चुके हैं। नाटक में एक ऐसे देश-काल का वर्णन है, जहाँ लंबे समय से वर्षा नहीं हुई है और ऋषि-मुनि इंद्रदेव को प्रसन्न करने के लिए पर्जन्य-यज्ञ कर रहे हैं। परावसु (प्रेम सावलानी) यज्ञ का अध्वर्यु (मुख्य पुरोहित) हैं और अनेक माहों से घर नहीं लौटा है। इस कारण उसकी पत्नी विशाखा (ज्योति सावरीकर) के हृदय में भी जैसे सूखा पड़ गया है। वह परावसु के दैवीय शक्तियों से सम्पन्न चचेरे भाई यवक्री (उबेदुल्लाह खान) से अभिसार कर अपनी प्यास बुझाती है। जबकि उसके ससुर (प्रदीप नेमा) इससे क्रुद्ध होकर यवक्री का वध करने के लिए ब्रह्मराक्षस (मनोज भामा) का आव्हान कर लेते हैं। इस घटना की भयावहता से अनजान अरवसु (दिनेश नायर), निषाद कन्या नित्तिलाई (प्रिया उदेनिया) से विवाह करने के लिए छटपटाता रहता है। लेकिन अंत में नित्तिलाई की भी हत्या हो जाती है। इसी बीच पर्जन्य-यज्ञ से प्रसन्न भगवान इंद्र प्रकट होते हैं और पिता (वसीम खान), भाई और प्रेमिका गवाँ चुके अरवसू से कोई एक वर मांगने को कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि अरवसु कौन सा वर मांगे? पूरी जनता जो अकाल से त्रस्त है- पानी, वर्षा, मेघ की याचना करती है। लेकिन अरवसु तो नित्तिलाई को जीवित देखना चाहता है।

ऐसे में इंद्रदेव (सैफू खान) समझाते हैं कि नित्तिलाई को जीवित करने पर वो सब किरदार भी जीवित हो जाएंगे, जो तुम्हारे आज के क्लेश का कारक है। अरवसु की आँखें खुलती हैं और वह इस बात को समझता है कि प्रेम पाने का नहीं, त्याग और समर्पण का ही नाम है। और अरवसु इंद्रदेव से मांगता है- वर्षा दे दो, क्योंकि नित्तिलाई भी यही चाहती है। समापन गीत का मुखड़ा गौरतलब है- प्रेम का अर्थ नहीं है पाना, प्रेम का अर्थ है जल जाना। पुनीत वर्मा के संगीत निर्देशन में यह गीत दर्शकों के साथ जैसे मंच के किरदारों को भी आलोकित कर जाता है। वर्षा की आमद का संकेत मेघों के गर्जन (ध्वनि प्रभाव-आसावरी) से होता है और सब के सब नाचते-थिरकते गाते हैं- पाप जले अग्नि में जाकर, पुण्य बहे पानी में जाकर / सार यही है जीवन भर का, अग्नि-बरखा अग्नि बरखा।

प्रस्तुति के लिहाज से नाटक अपने लक्ष्य से थोड़ा पिछड़ा लगा। संवादों को याद करने का सा भाव नित्तिलाई, अरवसु के दृश्य बंधों में कई बार पढ़ने में आया। ब्रह्मराक्षस (मनोज भामा) के प्रवेश पर उसे प्रकाश का कोई स्पॉट नहीं दिया गया और जनरल लाइट में उसका राक्षस वाला आंगिक अभिनय तथा (कष्ट से किया जाने वाला) अहसास आँखों और कानों दोनों के लिए कष्टप्रद रहा। भविष्य में नज़ीर कुरैशी इसके लिए किसी नाटकीय युक्ति का आश्रय लें तो ये किरदार अधिक प्रभावी हो सकेगा। कमोबेश सभी कलाकारों ने अपने अभिनय में जान डालने की पूरी कोशिश की और शायद इसी की वजह से नाटक की रोचकता और गति बनी रही। नट के रोल में प्रेम अस्थाना और लघु दृश्यों में विजय बोरगवे, जावेद खान, अंशुल कुकरेले, आकाश, अबीर, परवेज, वसीम खान बढ़िया रहे। रैभ्य के किरदार में प्रदीप नेमा का आवेश और सात्विक अभिनय देखने योग्य रहता है। वसीम खान के परिधान और नरेन्द्र राजपूत की रूपसज्जा नाटक के अनुकूल थी। लेकिन गायन में, जैसे भराव की उम्मीद थी, वह जाने क्यों पूरी नहीं हुई। पार्श्व संगीत में भी काफी जगहें हैं, जहाँ पुनीत वर्मा को भरपूर काम करना होगा।

'मत्स्यगंधा' यकीनन नज़ीर कुरैशी की इस समारोह की सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुति रही। वर्ष 2013 में भीलवाड़ा राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त करने के बाद से शहर में यह पहली प्रस्तुति थी और इसे देखने बड़ी संख्या में कलाप्रेमी आए थे। विशेष यह कि मूल मराठी संगीत नाटक के रूप में विख्यात इस नाटक को हिन्दी में देखने के लिए महाराष्ट्र समाज के दो दर्जन से अधिक गणमान्य कलामर्मज्ञ आए थे। यूँ तो नाटक सत्यवती और राजा दुष्यंत के मिलन तथा भीष्म प्रतिज्ञा के प्रसंगों पर आधारित है। लेकिन इसकी तह में, स्त्री पर पुरुष समाज के सदियों से किए जाने वाले क्रूर अत्याचारों का अंतर्मुख और उद्वेलित कर जाने वाला आग्नेय रसायन भी है, जो दुर्भाग्य से आज भी उतना ही प्रासंगिक है। प्रचलित कथाओं में मत्स्यकन्या सत्यवती को अक्सर घृणा की दृष्टि से चित्रित किया गया है, क्योंकि वह अपने बच्चों के लिए राजगद्दी की मांग करती है।

मगर इस नाटक में पराशर ऋषि-सत्यवती प्रसंग से बहुत उत्कटता से यह स्पष्ट किया गया है कि सत्यवती ऐसा क्यों करती है। स्त्री-विमर्श को मुखर करने वाले इस नाटक का गीत-संगीत प्रस्तुति का श्रृंगार भावना श्रीवास्तव (मत्स्यगंधा), दिनेश नायर (देवव्रत), प्रियदर्शन (सैफू खान) अधीरथ (प्रदीप नेमा), अंबा (श्रुति सिंह), चंडोल (उबेदुल्लाह खान), कालर्षि (संजय भोसकर), वर्तमान (मनोज भामा) सभी ने इस प्रस्तुति में अत्यंत सहजता से अभिनय किया है। फिर भी कुछ दृश्यों में भावना का अभिनय पूरे नाटक को अपने कंधे पर उठा लेता है। शेष कार्य उत्तरार्ध में दिनेश नायर भी करते हैं। युवा-बुजुर्ग सभी के लिए ये प्रस्तुति 'आई-कैंडी' भी है और 'माईंड ब्लोइंग' भी।

-विवेक मृदुल

चर्चित चेहरे अलंकरण

दुष्यंत कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय भोपाल द्वारा मध्यप्रदेश छत्तीसगढ़ के विभिन्न विधाओं में उत्कृष्ट कार्य करने वाली हस्तियों को पुराना विधानसभा भवन परिसर में आयोजित समारोह में ''चर्चित चेहरे'' अलंकरण से सम्मानित किया गया।

इस अवसर पर 'तारक मेहता का उल्टा चश्मा' के निर्माता असित कुमार मोदी ने अतिथि चर्चित चेहरा अलंकरण स्वीकार किया। उल्लेखनीय है कि इनके साथ ही अन्य 24 प्रतिभाओं को भी 'चर्चित चेहरे' अलंकरण भेंट किये गये। इस मंच पर रंगारंग कार्यक्रम और के.के. नायर की लोटपोट कर देने वाली मिमिक्री और हास्य प्रस्तुतियाँ भी हुईं।

समारोह में आजीवन उपलब्धि के लिए 'उत्कृष्ट चर्चित चेहरे' संतोष चौबे का चयन किया गया। एक विशेष समारोह में श्री चौबे ने वरिष्ठ आलोचक धनंजय वर्मा के हाथों सम्मान ग्रहण करते हुये अपने संघर्षशील जीवन और उपलब्धियों के सुनहरे पड़ावों को याद किया। अन्य विधाओं के 'चर्चित चेहरे' प्रहलाद टिपाणिया एवं भारती बन्धु (लोक गायन), बाबूलाल गौर (राजनीति), मदन मोहन जोशी (पत्रकारिता), जयन्त देशमुख मुम्बई (सिनेमा), पं. उमाकान्त एवं पं. रमाकान्त गुंदेचा भोपाल (संगीत), श्रीमती मालती जोशी भोपाल (साहित्य), प्रवीर कृष्ण, प्रमुख सचिव मध्यप्रदेश शासन भोपाल (प्रशासन), के. रवीन्द्र रायपुर (चित्रकला), सीमारानी, भोपाल सामाजिक सहभागिता एवं असाधारण प्रतिभा के रूप, में वासुदेव सरकार, भोपाल (लगातार 25 घंटे गाने का रिकार्ड आदि शामिल हैं।

राज़ जो कुछ हो, इशारों में बता देना...

आईसेक्ट विश्वविद्यालय में हास्य महोत्सव

आईसेक्ट विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित हास्य काव्य महोत्सव में विश्व ख्याति प्राप्त हास्य व्यंग्य कवि प्रदीप चौबे और मशहूर शायर डॉ. राहत इंदौरी के साथ ही संपत सरल और प्रमोद तिवारी ने शिरकत की। अपने समय और हालातों पर कटाक्ष करती और सहज हास्य का परिवेश तैयार करती कविताओं का ताना-बाना लिए देश के नामचीन कवि-शायर आईसेक्ट विश्वविद्यालय के सांस्कृतिक मंच से श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया।

कार्यक्रम का शुभारंभ कवि-कथाकार और आईसेक्ट के महानिदेशक संतोष चौबे एवं कवियों द्वारा द्वीप प्रज्जवलन से हुआ। चौबे ने कहा कि ये विश्वविद्यालय इस समय देश के प्रमुख विश्वविद्यालयों में से एक बनकर उभरा है, जिस संस्थान में आईटी के साथ ही संस्कृति, कला आदि को प्रमुखता से इस युवा पीढ़ी तक पहुंचा पाने में सक्षम भी हुआ है।

कानपुर के गीतकार कवि प्रमोद तिवारी ने अपने गीतों से समा बांध दिया। बोल थे- 'राहों में भी रिश्ते बन जाते हैं, ये रिश्ते भी मंजिल तक जाते हैं, आओ तुमको एक गीत सुनाते हैं, रिश्तों की खुशबू में ... आओ तुमको एक गीत सुनाते हैं'' इसी क्रम में अगली कविता युवा पीढ़ी को समर्पित की 'ऐ नदिया धीरे-धीरे बहना, धार-धार कहना... प्रचलित गलियों से बचना, अपना पथ खुद ही रचना आदि कविता गीत के माध्यम से प्रस्तुत कीं। इसी क्रम में संपत सरल जी ने गद्य रचना की पस्तुति दी जैसे 'वे भी क्या दिन थे, जब घड़ी एक-आध के वास होती थी और समय सबके पास था, आज की तरह नहीं थी कि फेसबुक पे पांच हजार दोस्त हैं और परिवार से बोलचाल बंद है इसी प्रकार संपत सरल जी ने राजनीति पर भी चुटकी ली साथ ही आधुनिक एवं पाश्चात् संस्कृति की उथल-पुथल के दौर से व्यंग्यात्मक लहजे में परिचित कराया।

जब मंच पर राहत इंदौरी आये तो तालियों से श्रोतागण ने उनका स्वागत किया। राहत इंदौरी जी ने भी नौजवानों के लिए अपने चिरपरिचित अंदाज में शेर पेश किया जैसे कि ''राज जो कुछ हो, इशारों में बता देना, और हाथ जब मुझसे मिलाना तो दबा देना, वैसे इस खत में कोई बात नहीं है, पर जब पढ़ लेना तब जला भी देना'' इसी प्रकार अगला शेर ''सरहदों पर बहुत तनाव है क्या?, कुछ पता तो करो चुनाव है क्या?' हास्य कवि प्रदीप चौबे ने मंच संभाला और दर्शकों को गुदगुदाते हुए कहा कि अब मैं अंतिम कवि हूँ और आप सभी इसी का इंतजार करे होंगे। उन्होंने आगे दशकों को व्यंग्यात्मक एवं हास्य कविता के माध्यम से हंसाते हुए लोटपोट कर दिया। राजनीति पे भी गहरा कटाक्ष करते हुए कहा कि 'गम न कर, अब उठ, सबर कर, मत मचल.... शहर चल, कर पहल, चल शहर, अब दल बदल'' इसी क्रम में आगे अफसरशाही पे भी कटाक्ष किया 'चहे कहीं भी और अफसर कहीं का भी बिल बना सकते हैं'। कार्यक्रम का संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया एवं अंत में अजय चौबे व विनिता चौबे ने विश्वविद्यालय के प्रो वीसी अमिताभ सक्सेना ने आभार व्यक्त किया।

'पेड़ फिर होगा हरा'

महेश अग्रवाल के ताजा गजल संग्रह 'पेड़ फिर होगा हरा' का लोकार्पण स्वराज भवन भोपाल के सभागार में सम्पन्न हुआ। प्रोफेसर आफाक अहमद, राम प्रकाश तथा श्याम मुंशी बतौर अतिथि उपस्थित थे। लोकार्पित संग्रह से महेश अग्रवाल ने कुछ गजलों का पाठ किया। उनके अशआर ने भरपूर प्रशंसा बटोरी।

संग्रह पर अपने आधार वक्तव्य में कवि-कथाकार लक्ष्मीनारायण पयोधि ने कहा कि शेर कहने की सलाहियत महेश अग्रवाल की सबसे बड़ी खासियत है। हिन्दी गजल के नाम पर बिना किसी रियायत के इन गजलों को परखने की कोशिश की जाये तो भी यह अपने कथ्य, शिल्प भाषा और छान्दसिक संरचना के स्तर पर भी खरे उतरने की योग्यता रखते हैं।

आलोचक रामप्रकाश ने कहा यह संग्रह प्रतिरोध और संघर्ष की उन तमाम ताकतों को समर्पित किया गया जिन्होंने समाज में सकारात्मक परिवर्तन लाने की अनथक कोशिशें की। श्याम मुंशी के अनुसार गजल, अरबी, फारसी से उर्दू में आयी और उसके बाद हिन्दी व अन्य भाषाओं ने गजल को अपनाया। महेश अग्रवाल ने हिन्दी गजल का दामन थामा और उसे बखूबी निभाया। उनके हिन्दी में कहे गये अशआर भी अपनी चमक से भरे हैं।

अध्यक्षीय उद्‌बोधन में प्रोफेसर आफाक अहमद ने कहा कि महेश अग्रवाल की गजलें आज के सुख-दुख, आज की तमन्नायें, अरजुएँ और ऐसे माहौल की हिमायती हैं जो एक अच्छे और खुशहाल जमाने को समाज का हिस्सा बना सकती हैं। संचालन डॉ. किशन तिवारी ने किया एवं आभार शिव कुमार अर्चन ने माना।

रमेश दवे को अमृत साधना सम्मान

साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में लगभग आधी सदी से अबाध सक्रिय रमेश दवे का अमृत साधना सम्मान से अलंकरण किया गया। सांस्कृतिक संस्था मधुवन की ओर से भोपाल के मानस भवन में आयोजित एक गरिमामय समारोह में हिन्दी के ज्येष्ठ कवि-कथाकार और आलोचक पद्‌मश्री रमेशचन्द्र शाह और प्रसिद्ध समाज सेवी रमेशचन्द्र अग्रवाल ने श्री दवे को शॉल, श्री और प्रतीक चिह्न भेंट कर उनका सारस्वत अभिनंदन किया। इस अवसर पर मध्यप्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री कैलाश जोशी, युवा सांसद आलोक संजर, मधुवन के सचिव सुरेश तांतेड़, छायाकार कमलेश जैमिनी आदि विशेष रूप से उपस्थित थे। अपने उद्‌बोधन में प्रो. शाह और कथाकार मुकेश वर्मा ने श्री दवे के विभिन्न सृजनात्मक आयामों और उनके शालीन व्यक्तित्व के पक्षों को उद्‌घाटित किया। आरंभ में कीर्ति सूद और प्रसन्न राव ने दवेजी के गीतों की संगीतमय प्रस्तुति से माहौल को शब्द-स्वर का संस्कार दिया। साहित्यकार युगेश शर्मा और रामवल्लभ आचार्य द्वारा संपादित स्मारिका का विमोचन भी किया गया। समारोह का संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया। समारोह में भोपाल के कला, साहित्य, संस्कृति, समाज सेवा और शिक्षा जगत से जुड़े गणमान्यजनों के साथ ही मालवांचल के अनेक शुभैषी मित्र परिजन बड़ी संख्या में उपस्थित थे।

बहुआयामी प्रतिभा के धनी श्री दवे ने साहित्य की सभी विधाओं में श्रेष्ठ सृजन किया है। भारत भवन, पत्रिका 'पूर्वग्रह' और मध्यप्रदेश सरकार के स्कूल शिक्षा विभाग की पत्रिका 'पलाश' का सफलतापूर्वक सम्पादन भी कर चुके हैं। इन दिनों आप मासिक 'समावर्तन' (उज्जैन) के परामर्श सम्पादक हैं। कई प्रादेशिक एवं राष्ट्रीय सम्मान और पुरस्कारों से अलंकृत हो चुके हैं, जिनमें अंसल फाउण्डेशन, नई दिल्ली का 2.50 लाख रुपये का कुसुमांजलि साहित्य सम्मान-2013 प्रमुख है जो आपको चर्चित उपन्यास 'खेल गुरू' पर प्रदान किया गया है।

शिला पर 'सतपुड़ा के जंगल'

कवि पंडित भवानी प्रसाद मिश्र की कालजयी रचना 'सतपुड़ा के घने जंगल' अब किताबों तक ही सीमित नहीं रह गई है। यह कविता बैतूल जिले में जिस स्थान पर बैठकर लिखी गई थी, वहाँ उसे एक शिलालेख पर हमेशा के लिए अमर कर दिया गया है। इस शिलालेख का अनावरण पंडित भवानी प्रसाद मिश्र स्मृति समारोह में साहित्य अकादमी के निदेशक प्रो. त्रिभुवननाथ शुक्ल द्वारा किया गया। भवानीजी की कर्मभूमि बैतूल भी रही है। अपनी पदस्थापना के दौरान ही उन्होंने यहाँ कई महत्वपूर्ण कविताओं की रचना भी की। इनमें बैतूल की तस्वीर सामने रखने वाली रचना 'सतपुड़ा के घने जंगल' सबसे प्रेरणादायी है। भारत-भारती के सचिव मोहन नागर ने बताया कि पं. मिश्र ने वर्ष 1939 में बैतूल शहर से सटे सोनाघाटी पहाड़ी पर बैठकर यह कविता लिखी थी। उस समय बदनूर (अब बैतूल) शहर जंगलों के बीचों-बीच बसा हुआ था। आज यह जंगल 20 किलोमीटर दूर सरक चुका है। इन हालातों में पं. मिश्र की यह कविता हरियाली और पेड़ बचाने के लिए प्रेरणा देने का महत्वपूर्ण कार्य करने में अहम भूमिका निभा सकती है। यही कारण है कि एक शिलालेख पर यह पूरी कविता अंकित है।

गगन गिन का रचना पाठ

एक जड़ स्त्री जो पुनः जीवन की ओर जाती है, उसके मन के भावों और आकांक्षाओं को कविता में पिरोकर दिल्ली की कवयित्री गगन गिल ने श्रोताओं के समक्ष रखा। वे भारत भवन भोपाल के कविता केंद्र वागर्थ की पाठ श्रृंखला के तहत कविता पाठ के लिए आमंत्रित थीं। उन्होंने ''ये जो जल मैं पीती हूं, हवा जो खाती हूं, धूप जो सेंकती हूं, न ये जल है, न हवा, न धूप''... कविता से पाठ की शुरुआत की। इसके बाद उन्होंने एक नारी के मन के किसी कोने में दबी आह को अपनी रचना, ''शब्द जो मुझे कहना था चुपके से तुम्हारे कान में फिसल गया है वो मेरे मुख से''... के माध्यम से पेश किया। अन्य कविताएं अपने नए कविता संग्रह 'वनकन्या' में से पेश की। इसके बाद उन्होंने एक और कविता संग्रह से ''थोड़ी सी उम्मीद चाहिए, जैसे मिट्टी में चमकती किरण सूर्य की... और एक सांस आए, एक सांस जाए बीच में दरिया डुबकी लगाए''.... सुनाई। 'थपक थपक दिल थपक थपक' कविता संग्रह में से उन्होंने, थपक थपक दिल थपक थपक, बात बुलाई दिल थपक थपक... का प्रभावी पाठ किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता पद्मश्री मंजूर एहतेशाम ने की। इस अवसर पर बड़ी संख्या में साहित्य प्रेमी उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन प्रेम शंकर शुक्ल ने किया।

कथाकार आकांक्षा को सम्मान

कहानी 'आल्ट, कंट्रोल, शिफ्ट, डिलीट' के लिए युवा कथाकार आकांक्षा पारे काशिव को राजेन्द्र यादव हंस कथा सम्मान दिया जाएगा। यह पुरस्कार पहले हंस कथा सम्मान के नाम से दिया जाता था और इसी वर्ष राजेन्द्र यादव के निधन के बाद इस पुरस्कार का नाम बदल दिया गया है। मध्यप्रदेश की युवा कथाकार आकांक्षा की कहानी में कम्प्यूटर में गाफिल रहने वाले एक ऐसे युवा की कहानी है जो दुनिया से पूरी तरह कट चुका है। पुरस्कार स्वरूप ग्यारह हजार रुपए की राशि भेंट की जाती है।

लोकार्पण

पत्रकार ब्रजेश राजपूत की पुस्तक 'चुनाव, राजनीति और रिपोर्टिंग' का पिछले दिनों मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान ने सीहोर में विमोचन किया। इस मौके पर गिरिजा शंकर, मुकेश कुमार, श्रवण मावई, सनी गोस्वामी, शयरयार खान आदि मौजूद थे। अध्यक्षता प्रदीप कृष्णपात्रे ने की और संचालन पंकज सुबीर ने किया।

कथोपकथन काव्य संगोष्ठी

इंडियन सोसाइटी ऑफ ऑथर्स, नोएडा की इंदौर इकाई द्वारा कहानी वाचन की प्रस्तुति 'कथोपकथन' एवं काव्य संगोष्ठी आयोजित की गई, जिसमें नियति सप्रे ने जेनरेशन गैप पर केंद्रित कथोपकथन तथा वेद हिमांशु, सुभाष पंडित, साबिर दत्त ने काव्य प्रस्तुतियाँ दीं। अध्यक्षता फादर वर्गीज़ ने की और संचालन व धन्यवाद ज्ञापन ज्योति जैन ने किया। व्यंग्य चित्रकार देवेंद्र शर्मा ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सबसे अधिक संख्या (55,167) में सामयिक कार्टूनों के प्रकाशन का विश्व कीर्तिमान बना लिया है, जिसके लिए उन्हें अमेरिका का 'गोल्डन बुक ऑफ वर्ल्ड रेकार्ड्स' सम्मान प्रदान किया गया।

'भावांजलि' के श्रद्धा स्वर

साई भक्त स्वर्गीय संजय डावर की छटवीं पुण्यतिथि तथा सामाजिक एवं पारमार्थिक सेवा प्रकल्प 'संजय स्पंदन' की स्थापना के चार वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर 'धड़कन चार बरस की : भावांजलि' का आयोजन किया गया। इंदौर के जाल सभागृह में आयोजित इस कार्यक्रम का प्रारंभ वैदिक मंत्रोच्चार के बीच चार वर्ष की यादों की प्रतीक चार बड़ी मोमबत्ती को प्रज्जवलित कर किया गया। अतिथि दत्त माऊली अण्णा महाराज, समाज सेवी आनंद मोहन माथुर, कृष्ण कुमार अष्ठाना, विशप चाको, जैन धर्म साधिका मैना दैवी चौधरी, प्रेस क्लब अध्यक्ष प्रवीण खारीवाल थे।

भावांजलि का आगाज़ लिली डावर एवं हेलन केलर विद्यालय के बच्चों ने 'सूरज की गर्मी से जलते हुए...' गीत से किया जिसने वातावरण में आध्यात्मिक रंग भर दिया। सभी को भावविभार कर दिया। मधुसुदन खण्डेलवाल ने 'ओहरे ताल मिले...' के साथ पूरा न्याय किया। रमजान के मौके पर अमान के गीत 'मौला-मौला' ने समाँ बाँध दिया। नगमा की सुरीली प्रस्तुति 'तुम ना जोन किस जहाँ में और अकेले हैं चले आओ' ने माहौल को गमगीन कर दिया। मोना शेवड़े ने 'तुम गगन के चंद्रमा हो, रहें ना रहें हम' गीतों में गायकी के हुनर से सभी के दिल पर छाप छोड़ी। प्रकाश और लिली के युगल गीत 'आदमी मुसाफिर है' तथा मधुसूदन और लिली के गाये युगल गीत 'एक प्यार का नगमा है' को भी श्रोताओं की दाद मिली।

विजय गावड़े (हारमोनियम) विक्रम यादव (बाँसुरी) एवं चेतन मर्हर्षि (मेंडोलिन) की स्वरलहरियों ने वातावरण में रस घोल दिया। कार्यक्रम का समापन 'जिंदगी एक सफर है सुहाना' से हुआ जिसमें सभी कलाकारों एवं श्रोताओं ने साथ दिया। संगीत संयोजन राजेश मिश्रा ने किया। की-बोर्ड पर - सुमित शर्मा, तबला एवं कांगो पर बाबला गजभिये, ऑक्टोपेड पर अनूप कुलपारे एवं साईड रिदम पर अंश गजभिये ने संगत की। कार्यक्रम का संचालन रंजन सर ने किया।

भट्टाचार्य और ज्ञान चतुर्वेदी सम्मानित

मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति द्वारा वर्ष 2013-14 का एक लाख रुपये का शताब्दी राष्ट्रीय पुरस्कार कवि, उपन्यासकार, नाटककार, रंगकर्मी डॉ. प्रभात कुमार भट्टाचार्य को तथा रुपये पचास हज़ार का प्रादेशिक पुरस्कार ख्यातव्यंग्यकार ज्ञान चतुर्वेदी को उनके दीर्घ साहित्यिक अवदान के लिए दिया जाएगा। डॉ. गिरिराज किशोर, डॉ. धनंजय वर्मा और डॉ. कमलकिशोर गोयनका की चयन समिति ने सर्वसम्मति से इन पुरस्कारों की अनुशंसा की है।

'पीले चाँवल'

छायाकार और साहित्यकार नवल जायसवाल की पुस्तक 'पीले चाँवल' का लोकार्पण दुष्यन्त संग्रहालय भोपाल में हुआ। जायसवाल के अनुसार पुस्तक का मुख्य विषय ''आज से पच्चीस वर्ष पूर्व अपनी बड़ी बेटी लालिमा को लिखे गये साहित्यिक पत्र हैं। पुस्तक का एक और आकर्षण है स्व. राजेन्द्र अनुरागी द्वारा लिखा गया एक पारिवारिक भाव का पुरोवाक्।'' समारोह की अध्यक्षता राम प्रकाश त्रिपाठी ने की। अतिथि डॉ. सुभद्रा खुराना एवं कुलतार कौर कक्कर। पुस्तक पर अपने विचार व्यक्त किए निर्मला जोशी एवं डॉ. लता अग्रवाल ने। संचालन युवा साहित्यकार घनश्याम मैथिल ने किया।

शिमला के ऐतिहासिक गेयटी थिएटर में भाषा एवं संस्कृति विभाग हिमाचल प्रदेश एवं शिला एमेच्योर ड्रामेटिक क्लब के संयुक्त तत्वावधान में 04 से 07 सितंबर तक आयोजित राष्ट्रीय नाट्य समारोह में उत्तर प्रदेश की लोक नाट्य शैली नौटंकी की बयार बही। वरिष्ठ रंगकर्मी व पूर्व आईएएस श्रीनिवास जोशी द्वारा उद्घाटन के बाद विनोद रस्तोगी स्मृति संस्थान (रंगमंडल) इलाहाबाद के कलाकारों की नाट्य प्रस्तुति बंटवारे की आग (नौटंकी) के साथ समारोह की शुरुआत हुई।

शिमला के गेयटी थिएटर में
नाटक के चार रंग

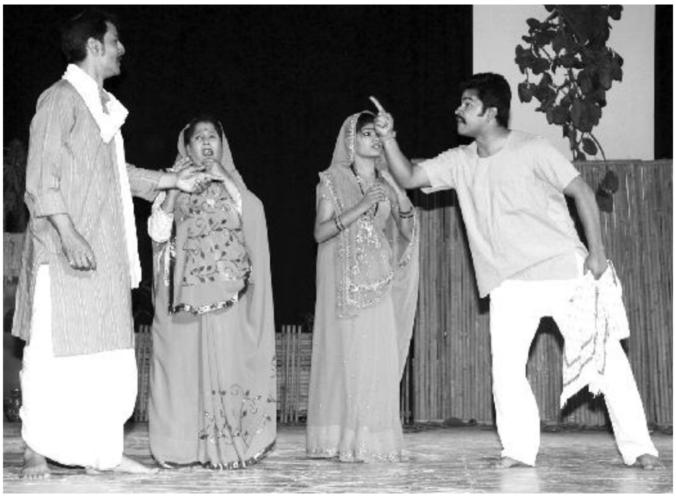

एक किसान परिवार की इस कहानी में दिखलाया गया कि दो भाइयों श्यामू (अजय मुखर्जी) व रामू (शैलेन्द्र सरोज) के आपसी प्रेम के बीच धूर्त नौरंगीलाल (अभिलाष नारायण) बड़ी चतुराई से फूट डाल देता है जिससे परिवार में बंटवारे की नौबत आ जाती है। बाद में दोनों भाइयों को अपनी गलती का अहसास होता है और परिवार बिखरने से बच जाता है। नाटक में प्रतिभा श्रीवास्तव (माँ), हिमानी कुलकर्णी (बड़ी बहू), शालिनी श्रीवास्तव (छोटी बहू), पुनर्वसु (नट), प्रतिज्ञा शर्मा (नटी) ने अपनी भूमिकाओं को जीवंत किया। संगीत उदय चन्द्र परदेशी, प्रकाश व्यवस्था वीरेन्द्र मिश्र की एवं लेखक विनोद रस्तोगी थे जबकि निर्देशन अजय मुखर्जी ने किया। दूसरे दिन इलाहाबाद के ही कलाकारों ने नाटक प्रमोशन का मंचन किया। इस नाट्य प्रस्तुति में एक पात्र हरीश (पुनर्वसु) अपने नये बॉस मि. घोष (अभिलाष नारायण) को दावत देता है ताकि वो खुश होकर उसका प्रमोशन कर दें। हरीश की पत्नी सावित्री (हिमानी कुलकर्णी) कम पढ़ी लिखी है सलिए वो अपने बॉस से अपने मित्र प्रकाश (हिमांशु कुशवाहा) की स्मार्ट पत्नी रजनी (शालिनी श्रीवास्तव) को अपनी पत्नी एवं अपनी पत्नी सावित्री को नौकरानी बताकर परिचय कराता है। मगर मि. घोष को सच पता चल जाता है। नाटक में वीरेन्द्र मश्रि (बांके) व रोहन आनन्द (बहादुर) ने भी अच्छा अभिनय किया। विनोद रस्तोगी लिखित इस नाटक का भी निर्देशन अजय मुखर्जी ने किया, उक्त दोनों नाटकों के प्रस्तुतकर्ता आलोक रस्तोगी थे। 06 सितंबर को अनुकृति (रंगमंडल) कानपुर के कलाकारों ने प्रसिद्ध लेखक सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के चर्चित नाटक बकरी का मंचन किया। नाटक उत्तरप्रदेश की लोक नाट्य शैली नौटंकी पर आधारित था निर्देशन ओमेन्द्र कुमार का रहा। सुदेश श्रीवास्तव, जब्बार, विजयभान, जॉली, अनिल निगम, आकांक्षा आदि का अभिनय काबिले गौर था। समारोह के समापन पर अनुकृति कानपुर के ही कलाकारों ने लेखक हरिशंकर परसाई की कहानी पर आधारित एवं सुमन कुमार द्वारा नाट्य रूपांतरित प्रस्तुति दस दिन का अनशन का मंचन किया। नाटक का निर्देशन डॉ. ओमेन्द्र कुमार ने किया।

हिन्दी नाट्य पर संगोष्ठी

हिन्दी नाटकों की दशा और दिशा पर केंद्रित सार्थक गोष्ठी रायपुर में संपन्न हुई जिसमें प्रदेश के रंगकर्मी, कलाकार एवं साहित्यकारों ने भाग लिया। आयोजन सुतनुका सोसायटी फार परफॉर्मिंग आर्ट्स द्वारा किया गया।

नाट्य संगोष्ठी का विषय- ''हिन्दी नाट्य रंगमंच में कमी लेखन की या मंचन की'' था। प्रमुख वक्ता प्रसिद्ध नाटककार अख्तर अली ने कहा कि- नाटक के मंचन का समय, स्थान व कितना हिस्सा मंचन किया जाये यह नाट्य नर्दिशक तय करता है। नाटक पर पूरा नियंत्रण निर्देशक का होता है ऐसी स्थिति में नाटककार उपेक्षित महसूस करता है। रंगप्रेमी व नाट्य समीक्षक सुभाष मिश्रा ने आधार वक्तव्य देते हुये कहा कि- किसी भी नाटक का मूल्यांकन साहित्यिक मूल्यों की कसौटी पर नहीं अपितु उसके रंग मूल्यों का भी नाटक की सफलता में योगदान होता है। प्रसिद्ध नाट्य निर्देशक श्री योगेन्द्र चौबे ने कहा कि नाटककार एवं निर्देशक के बीच संवाद का होना नितांत आवश्यक है।

संगोष्ठी की अध्यक्षता करते हुये समीक्षक डॉ. सुशील त्रिवेदी ने कहा कि नाट्य लेखन की भाषा में ध्वन्यात्मकता का होना जरूरी है। संस्था के अध्यक्ष रवीन्द्र गोयल ने उद्देश्यों पर प्रकाश डाला।

राष्ट्रीय नाट्य स्क्रिप्ट बैंक

गत दिनों रायपुर में नाटक के क्षेत्र में सक्रिय संस्था सुतनुका सोसाइटी द्वारा राष्ट्रीय नाट्य स्क्रिप्ट बैंक का शुारंभ किया इस संस्था ने हिन्दी नाटकों को बढ़ावा देने के उद्देश्य से इस नाट्य बैंक का प्रारंभ किया। लगातार मूलि हिन्दी भाषा के नाटकों का कथानक उपलब्ध न होने के कारण रंगमंच से जुड़े कलाकारों को मजबूरी में अन्य भाषा में लिखे नाटकों का हिन्दी अनुवाद कर मंचन करना होता था। इस दृष्टि से संस्था द्वारा किया गया प्रयास सार्थक है।

सुतनुका सोसाइटी के अध्यक्ष रवीन्द्र गोयल ने बताया कि उनके नाट्य स्क्रिप्ट बैंक में हिन्दी के 860 नाटक उपलब्ध हैं जिसमें राष्ट्रीय स्तर के नामी नाटककारों के अलावा स्थानीय उपलब्ध के नाटककारों को शामिल किया गया है। इस नाट्य बैंक में स्व. डॉ. धर्मवीर भारती, स्व. मोहन राकेश, गिरीश कर्नाड, मृणाल पांडे, हबीब तनवीर, रामकुमार वर्मा, जयशंकर प्रसाद, शंकर शेष, भुवनेश्वर, विष्णु प्रभाकर एवं राजेश जोशी आदि नाटककारों के नाटक संग्रहित हैं। नाट्य बैंक में संग्रहित नाटकों की सूची संस्था की वेबसाइट में उपलब्ध हैं। कोई भी नाट्य संस्था या रंगकर्मी मोबाइल नं. 097130-48833 में संपर्क कर मुफ्त में प्राप्त कर सकते हैं।

-आलोक शुक्ला

राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी के हाथों भारतीय ज्ञानपीठ का सर्वोच्च साहित्य सम्मान प्राप्त करते हुये हिन्दी कवि केदारनाथ सिंह

केदारनाथ सिंह ज्ञानपीठ से सम्मानित

नई दिल्ली, राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी ने संसद नई दिल्ली बालयोगी सभागार में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केदारनाथ सिंह को ४९वें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया। पुरस्कार स्वरूप उन्हें ११ लाख रुपए का चेक, वाग्देवी सरस्वती की कांस्य प्रतिमा, प्रशस्ति-पत्र और शॉल भेंट किया गया।

इस अवसर पर राष्ट्रपति ने कहा कि भारत कई भाषाओं का देश है और हर वर्ष हम कुछ बेहतरीन रचनाओं क जरिए इस भाषाई विविधता का अनुष्ठान करते हैं, जो हमारी साहित्यिक विरासत में योगदान करता है। उन्होंने कहा कि हमारी इस साहित्यिक विविधता के सौंदर्य को, इसकी गहनता को और इसकी अनुगूंज को दुनिया के सभी कोनों में पहुंचाने का प्रयास होना चाहिए। केदारनाथ सिंह की कविता का उल्लेख करते हुए मुखर्जी ने कहा कि अद्वितीय व्यक्तित्व के धनी कवि न केवल आधुनिक सौंदर्यशास्त्र के प्रति संवेदनशील है, बल्कि पारंपरिक ग्रामीण समुदायों के प्रति भी उनकी संवेदना झलकती है। राष्ट्रपति ने कहा कि उनकी यह इच्छा है कि देश की युवा पीढ़ी कालजयी भारतीय साहित्य का गहराई से अध्ययन करे। इससे न केवल नैतिक मानदंडों को ठीकठाक करने में मदद मिलेगी बल्कि राष्ट्र निर्माण के हमारे प्रयासों में योगदान होगा।

पुरस्कृत कवि केदारनाथ सिंह ने अपने वक्तव्य में कहा कि एक लेखक के रूप में मैं सोचता हूं कि हमारा समय अनेक चुनौतियों से भरा है। लेखक इन्हीं चुनौतियों का सामना करता है। इस संदर्भ में उन्होंने वर्तमान समय को पहले सेअधिक जटिल बताया। उन्होंने कहा कि एक विश्व नागरिक के रूप में हम चाहे कितनी ही दूर रह रहे हों लेकिन कह सकते हैं कि इराक और सीरिया में जो हो रहा है वह भी हमारी संवेदना के दायरे में है। उदारीकरण का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि यहां 'उदार' शब्द स्वयं अपने अर्थ के प्रति लाचार होता हुआ दिखाई पड़ता है। उन्होंने कहा कि शब्द पर पड़ने वाली बाजार की धूल की पर्त गहरी होती जा रही है।

केदारनाथ सिंह की प्रमुख रचनाओं में 'अभी, बिल्कुल अभी', 'जमीन पक रही है', 'यहां से देखो', 'अकाल में सारस', 'बाघ' और 'सृष्टि पर पहरा' शामिल हैं। उन्हें साहित्य अकादेमी, भारतभारती और व्यास सम्मान सहित कई पुरस्कार और सम्मान प्राप्त हैं। वे साहित्य अकेदामी के महत्तर सदस्य भी हैं।

प्रवर परिषद् के अध्यक्ष और प्रसिद्ध ओड़िया कवि सीताकांत महापात्र ने कहा कि साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित केदारजी का संग्रह 'अकाल मेंसारस' मेरे लिए उनका सर्वश्रेष्ठ संकलन है। उन्होंने इस अवसर पर सिंह की दूसरी कृतियों का उल्लेख करते हुए उनकी दो रचनाओं के अंग्रेजी अनुवाद का पाठ भी किया। डॉ. इंदु जैन की सरस्वती वंदना से शुरू हुए इस सम्मान अर्पण समारोह में अतिथियों का स्वागत भारतीय ज्ञानपीठ के निदेशक लीलाधर मंडलोई ने किया। धन्यवाद ज्ञापन संस्थान के प्रबंध न्यासी अखिलेश जैन ने किया।

स्पंदन सम्मान 2013 की घोषणा

ललित कलाओं के लिए समर्पित स्पंदन संस्था भोपाल की ओर से स्थापित सम्मानों की श्रृंखला में वर्ष 2013 के सम्मानों की घोषणा कर दी गई है। स्पंदन कृति सम्मान दिनेश कुशवाह को (कविता संग्रह 'इसी काया में मोक्ष), स्पंदन कृति सम्मान भालचन्द्र जोशी को (कहानी संग्रह 'जल में धूप'), स्पंदन आलोचना सम्मान सुशील सिद्धार्थ को, स्पंदन साहित्यिक पत्रिका सम्मान ज्ञानरंजन को ('पहल' के लिए), स्पंदन बाल साहित्य सम्मान राष्ट्रबंधु को, स्पंदन प्रवासी कथा सम्मान सुधा ओम ढींगरा को तथा स्पंदन ललित कला

सम्मान (गायन के लिए) कलापिनी कोमकली को प्रदान किये जाएंगे। स्पंदन सम्मान की संयोजक उर्मिला शिरीष के अनुसार प्रत्येक को सम्मान स्वरूप ग्यारह हजार रुपये की राशि, स्मृति चिह्न, शॉल तथा श्रीफल, भोपाल में आयोजित सम्मान समारोह (दिसम्बर 2014) में प्रदान की जावेगी।

राजेश जोशी को शशिभूषण सम्मान

बहुचर्चित कवि राजेश जोशी को इस बार का शशि भूषण स्मृति सम्मान प्रदान किया गया। रंग संस्था पटना की ओर से यह सम्मान राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के छात्र रहे प्रतिभाशाली युवा रंगकर्मी शशि भूषण की याद में नाट्यकर्म से जुड़े रचनाकारों को दिया जाता है। सम्मान के तहत इक्कीस हजार की राशि तथा स्मृति चिह्न भेंट की जाती है। इससे पहले यह सम्मान ऋषिकेश सुलभ, रामेश्वर प्रेम तथा अजगर जाहत को मिल चुका है।

कुमार गंधर्व को सुरांजलि

नई दिल्ला में कालजयी गायक और संगीत-विचारक पंडित कुमार गंधर्व पर केंद्रित तीन दिवसीय समारोह की शुरुआत उनकी बेटी कलापिनी कोमकली और उनके पौत्र भुवनेश कोमकली के भावपूर्ण गायन से हुई। इन कलाकारों ने विभिन्न रागों में पिरोई कुमार गंधर्व की बंदिशों को पेश कर श्रोताओं को न केवल मंत्रमुग्ध कर दिया, बल्कि उनकी स्मृति को ताजा कर दिया। तबले पर मयंक बेड़ेकर और हारमोनियम पर चिन्मय कोल्हटकर ने संगत की।

कुमार गंधर्व जीवित होते तो इस साल 90 साल के हुए होते। उनकी पुण्य स्मृति में सांगीतिक अनुभव, बौद्धिक ललित विमर्श और उनकी परंपरा के दिग्दर्शन के लिए तीन दिन का यह समारोह आयोजित किया जा रहा है। समारोह का आयोजन कुमार गंधर्व प्रतिष्ठान देवास, संगीत नाटक अकादमी, रजा फाउंडेशन, संस्कृति प्रतिष्ठान, गंधर्व महाविद्यालय और इंडिया इंटरनेशनल सेंटर ने मिल कर किया है।

इंडिया इंटरनेशनल सेंटर के फाउंटेन लांज के खुले परिसर में आयोजित समारोह के पहले दिन कलापिनी कोमकली और भुवनेश कोमकली ने राग कल्याण, पूरिया धनाश्री, भीमपलासी और मल्हार जैसे विभिन्न रागों में कुमार गंधर्व द्वारा पिरोई बंदिशों के साथ उनके गाए लोकगीतों को पेश कर सुरांजलि दी। सूत्रधार की भूमिका का निर्वाह कर रहे अतुल तिवारी ने संगीत, कला और गायन के साथ समाज और संसार के बारे में कुमार गंधर्व के विचारों और उनके सपनों को भी सरल-सहज शब्दों में पेश किया। तिवारी ने बताया कि शिवपुत्र सिद्धरामय्या कोमकलीमठ (कुमार गंधर्व) दस बरस की उम्र से ही संगीत समारोहों में गाने लगे थे और ऐसा चमतकारी गायन करते थे कि उनका नाम कुमार गंधर्व पड़ गया। उन्होंने कहा कि कुमार गंधर्व ने लीक छोड़ भारतीय शास्त्रीय संगीत में परंपरा को तजकर नई मिसाल कायम की। समारोह में गायन शुरू होने के पहले एक फिल्म का प्रदर्शन किया गया, जिसमें दस साल के कुमार गंधर्व गायन पेश करते दिखाई पड़े।

समारोह के आखिर में डॉ. मुकुंद लाठ ने पुस्तक 'कालजयी कुमार गंधर्व' (मराठी, हिन्दी और अंग्रेजी में) का लोकार्पण कवि और आलोचक अशोक वाजपेयी और ओमप्रकाश जैन की उपस्थिति में किया। पुस्तक का संपादन कलापिनी कोमकली और रेखा ईनामदार साने ने किया है। डॉ. लाठ ने इस मौके पर कहा कि कुमार गंधर्व

पंडित गंगा प्रसाद पाठक ललित कला न्यास के आयोजन में युवा संगीतकार आशुतोष पाठक ने दस स्थानीय कवियों की कविताओं की सांगीतिक प्रस्तुति दी। गायन किया प्रतिष्ठा श्रीवास्तव, संजय दुबे, सुमंत भार्गव, कामिनी ठाकुर और स्वयं आशुतोष ने। संचालन गोविन्द देवलिया ने किया, कवि..सुरेन्द्र श्रीवास्तव, आनंद श्रीवास्तव, उदय ढोली आदि थे।

अपने समय के निराले गायक थे और उन्होंने परंपरा का साथ नहीं छोड़ा और इसी के साथ वे भारतीय संदर्भ में अपने समय के किसी भी संगीतकार से कहीं ज्यादा आधुनिक थे। वे केवल राग गाते नहीं थे, बल्कि अपने अंतर-विमर्श से प्रभावित होकर नए रागों की संरचना भी करते थे। इसके पहले स्वागत करते हुए अशोक वाजपेयी ने कुमार गंधर्व को ध्रुवांतरों को मिलाने वाला संगीतकार बताते हुए कहा कि वे सगुण, निर्गुण के साथ विरक्ति के गायक थे। उन्होंने कहा कि कुमार गंधर्व स्वरों के स्वराज्य में यकीन करते थे और शब्द की महिमा को भी स्वीकार करते थे। आखिर में पुस्तक में योगदान के लिए छायाकार अविनाश पसरीचा और विनय जैन का भी अभिनंदन किया गया।

सुरेश पंडित को श्रद्धांजलि

हिन्दी के प्रखर आलोचक और साहित्य-संस्कृति के विद्वान हस्ताक्षर सुरेश पंडित के निधन पर भोपाल के साहित्यकारों ने वनमाली सृजन पीठ के अध्ययन केन्द्र में एकत्र होकर उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की। सृजन पीठ के अध्यक्ष कवि-कथाकार संतोष चौबे ने अपने शोक प्रस्ताव में कहा कि पंडितजी हमारे रचना समय का बहुत बारीक विश्लेषण करने की अद्‌भुत क्षमता से भरे आलोचक व चिंतक थे। साहित्य, संस्कृति और कलाओं में उनकी समान रुचि थी। बहुआयामी नजरिया ही उनकी लेखनी को प्रामाणिक और प्रखर चेतना प्रदान करता रहा।

अस्सी बरस की उम्र में फानी दुनिया को अलविदा कहने वाले सुरेश पंडित के आत्मीय रिश्तों को याद करते हुए कथाकार मुकेश वर्मा ने कहा कि पकी उम्र के बावजूद वे हर नयी कृति को देखने-पढ़ने की ललक रखते थे। कवि महेन्द्र गगन के अनुसार पंडितजी साहित्य के अलावा सामाजिक आंदोलनों और समकालीन वैचारिक बहस का भी हिस्सा बनते रहे। कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने कहा कि वाणी और व्यवहार में सुरेश पंडित ने जिस शालीनता को आत्मसात किया था वह एक आदर्श मिसाल की तरह है। इस अवसर पर आलोचक रामप्रकाश त्रिपाठी, अरुणेश शुक्ल, मोहन सगोरिया ने भी पंडितजी की स्मृतियाँ साझा कीं।

गीतकार नीरज को प्रदीप सम्मान

विख्यात गीतकार नीरज को राष्ट्रीय कवि प्रदीप सम्मान से विभूषित किए जाने का निर्णय म.प्र. शासन द्वारा गठित चयन समिति की अनुशंसा पर शासन द्वारा लिया गया। इस सम्मान के अंतर्गत दो लाख रुपए की आयकर मुक्त राशि, सम्मान पट्टिका, शाल एवं श्रीफल प्रदान किया जाता है। इस समिति में कवि डॉ. विष्णु सक्सेना, डॉ. सरिता शर्मा, डॉ. धुवेन्द्र भदौरिया, कविता किरण एवं मंजीत सिंह शामिल थे।

गगन का एकल काव्य पाठ

साहित्य संगम इन्दौर के तत्वावधान में महेन्द्र गगन (भोपाल) का एकल काव्य पाठ हुआ। उनकी कविताओं पर वरिष्ठ कवि कृष्णकान्त निलोसे एवं युवा समीक्षक प्रदीप मिश्र ने सारगर्भित चर्चा करके श्री गगन की कविताओं को समय की धड़कन निरूपित किया। इस अवसर पर सर्वश्री चन्द्रसेन विराट, डॉ. सरोजकुमार, डॉ. जवाहर चौधरी वेद हिमांशु, सूर्यकान्त नागर, ललित रावल, अरविंद ओझा, लक्ष्मीनारायण तिवारी, हरेराम वाजपेयी, प्रदीप नवीन आदि साहित्यकार उपस्थित थे। संचालन लिली डावर ने किया।

दीपक को 'साहित्य भूषण'

वरिष्ठ साहित्यकार देवेन्द्र दीपक को उनके साहित्यिक अवदान के लिए 'साहित्य भूषण सम्मान' से सम्मानित करने की घोषणा की गई है। उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्था की ओर से २०१३ के घोषित सम्मान के तहत रचनाधर्मियों को सम्मानित किया जाएगा।

इसके तहत उन्हें २ लाख रुपए की राशि एवं शॉल श्रीफल प्रदान किया जाएगा। उनके साथ ही प्रदेश के साहित्यकार पुन्नी सिंह भी इस सम्मान से नवाजे जाएंगे। इसके साथ यह सम्मान विभूतिनारायण राय, वैद्यनाथ प्रकाश शुक्ल भव्य, डॉ. रामसिंह यादव, महावीर सरन जैन, डॉ. कुसुम खेमानी, डॉ. शंभुनाथ, नुसरत नाहीद और जमुना प्रसाद उपाध्याय को भी सम्मानित किया जाएगा।

कवि-कथाकार संतोष चौबे की नवप्रकाशित पुस्तकों पर संवाद और विमर्श का आयोजन वैचारिक उत्तेजना और नयी बहस के साथ संपन्न हुआ। रंग समूह नट निमाड़, खंडवा के संयोजन में आयोजित इस समीक्षा गोष्ठी में चौबे ने 'कला की संगत' और 'अपने समय में' किताबों से उद्धृत निबंधों का पाठ किया। इस गोष्ठी में खंडवा के लेखकों कैलाश मंडलेकर, गोविन्द गुंजन, शहजाद कुरैशी, गोविन्द शर्मा और अरुण सातले ने पुस्तकों की विषय-वस्तु, भाषा-शैली और खासकर हमारे समय के सांस्कृतिक-सामाजिक मुद्दों को रेखांकित करती अपनी टिप्पणियाँ की।

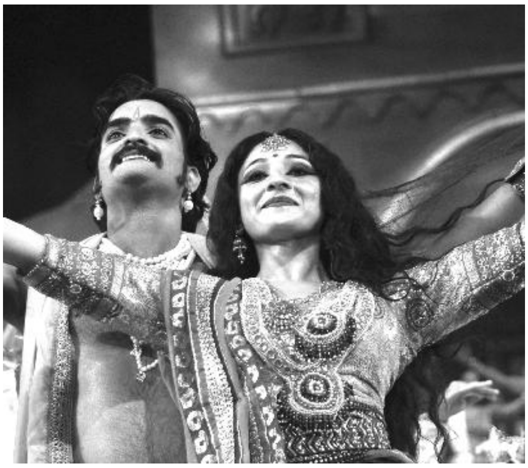

रंगभूमि पर 'मेघदूतम्'

क्षितिज की बाँहों से निकलकर उत्सव की आगोश में डूबती-उतरती कार्तिक की खुशनुमा शाम। भोपाल का लाल परेड मैदान और इस विशाल आंगन में अपने सूबे की सालगिरह की खुशियाँ साझा करने उमडता हज़ारों का जनसैलाब। विरासत की रौशनी में स्मृतियों की हिलोर जगाती एक नवंबर की यह शाम अपने दामन में दिलकश नज़ारों का जादुई सम्मोहन समेट लाई थी।

राज्योत्सव की परिकल्पना हर बार की तरह गुणात्मक रचनात्मक और प्रेरणा का प्रतीक बनी। इस दफा जुडी 'मेघदूतम' जैसी महान रचना। उत्सव की रंगभूमि पर कविता और कला का मणिकांचन मिलाप हुआ। लगभग पैंतालीस मिनिट की यह विहंगम दृश्य-श्रव्य प्रस्तुति एक अलौकिक घटना की तरह मंच पर उद्घाटित हुई। अपनी कृतियों में जीवन, प्रकृति और संस्कृति के उद्गाता महाकवि कालिदास की रचना पर आधारित एक अप्रतिम कला रूपक जिसमें समूची भारतीयता अपनी सांस्कृतिक विरासत और कलात्मक चेतना के साथ उद्घटित होती है। साहित्य, संगीत, नृत्य, अभिनय और प्रकाश के मणिकांचन संयोग से साकार होता 'मेघदूतम' प्रेम और श्रृंगार की एक ऐसी उदात्त अभिव्यक्ति हैं जिसे कालिदास ने भावनाओं के कोमल रेशों और आलंकारिक भाषा के शब्द-रंगों से रचा है। 'मेघदूतम' प्रेम की एक गहरी, अनंत यात्रा है। एक निर्मल, पवित्र आकांक्षा है। जीवन का राग-संगीत है जो कालिदास के यक्ष और यक्षिणी की आत्मा का स्पंदन है। इन प्रतीकों के माध्यम से शाश्वत प्रेम का एक महाभाव भी। 'मेघदूतम' का संदर्भ लें तो यह संस्कृत काव्य कवि कालिदास ने मध्यप्रदेश के मालवांचल में अपनी साहित्य साधना करते हुए रचा था। स्वाभाविक ही मध्यप्रदेश की महिमा का बखान भी कालिदास की लेखनी में सहज रम्यता के साथ हुआ है तभी तो एक छंद में यक्ष मेघ से कहता है- '' हे जलधर यदि महाकल के मंदिर में समय से पहले तुम पहुँच जाओ, तो तब तक वहाँ ठहर जाना, जब तक सूर्य आँख से ओझल न हो जाए।

दरअसल 'मेघदूतम' भारतीय साहित्य की वह अनूठी कविता है जिसके मूल में प्रेम, करूणा और प्रकृति है। यह एक यक्ष की कथा है जिसे अलकापुरी का राजा कुबेर कर्त्तव्यपालन में असावधानी के लिए श्राप देते हुए अपने नगर से निष्कासित कर देता है। यक्ष रामगिरि पर्वत पर कुटिया बनाकर निवास करता है। आषाढ के पहले दिन आसमान पर पावस के बादल उभरते हैं, यक्ष का मन अपनी प्रिया यक्षिणी से मिलने को आतुर हो उठता है। अलकापुरी लौटना भी संभव नहीं। अपनी प्रिया को संदेशा भेजने के लिए वह मेघों का ही सहारा लेता है। यक्ष उन तमाम ज़गहों से बादल को विचरण करने का निवेदन करता है, जो भारत की शस्य श्यामला की सुन्दरता और सौभाग्य के चिन्ह हैं। रामगिरी से अलकापुरी तक मेघों की आकाश-यात्रा यक्ष के प्रेमिल मन की यात्रा है जो जीवन और प्रकृति के प्रगाढ रिश्तों से गुजरती अनुभूति के विराट क्षितिज की ओर ले जाती है।

एक सौ ग्यारह संस्कृत पदावलियों में गुंफित 'मेघदूतम' की रंगमंचीय परिकल्पना को कला की कसौटी पर उतारना किसी चुनौती से कम नहीं लेकिन काबिले फ़क्र है कि प्रख्यात कोरियोग्राफर सुश्री मैत्रेयी पहाडी ने म.प्र. के इस प्रस्ताव को स्वीकार किया और एक विहंगम प्रस्तुति को रंगपटल पर साकार करने की चुनौती को कामयाबी में बदल दिया।

मध्यप्रदेश और पडौसी राज्यों के लगभग पाँच सौ कलाकारों को संयोजित कर सुश्री मैत्रेयी ने 'मेघदूतम' की यह दृश्य-श्रव्य प्रस्तुति तैयार की। संभवत: मध्यप्रदेश स्थापना समारोह का यह मंच इस ऐतिहासिक नज़ारे का पहला और अकेला फलक हैं जब 'मेघदूतम' कविता की काया से बाहर निकलकर जीवंत दृश्य-संवाद का दुर्लभ अनुभव बना। यह प्रस्तुति सामूहिकता में एकता की मिसाल है। साहित्य और कलाओं की आपसदारी का उदाहरण है। लोक और शास्त्रीय नृत्य-संगीत का मिलाप है। अपने समय का एक महत्वपूर्ण कला-सृजन है 'मेघदूतम'का यह मंचन जो प्राचीन साहित्य में आधुनिक प्रासंगिकता और प्रेरणा की तलाश करता ज्ञान, रूचि और जिज्ञासा के नए द्वार खोलता है।

संस्कृति विभाग के ही अकादेमिक सहयोगी राहुल रस्तोगी की परिकल्पना, अजय प्रसन्नता और मॉरिस लाजरस का संगीत, फैशन डिज़ाइनर मुमताज खान का वस्त्र विन्यास, अनूप जोशी, शील द्विवेदी और रवीन्द्र तोंडे का तकनीकी संयोजन, क्षमा मालवीय, श्वेता-देवेन्द्र, माधव बारीक, नरेन्द्र सिंह राजपूत, राजा साई बाबू और रितुश्री चौधरी का अपने-अपने मोर्चों पर अपनी संपूर्ण क्षमताओं के साथ समर्पण दिखाई दिया।

'मेघदूतम' की सुन्दर छवियों को आत्मसात करने के बाद संगीत की मचलती उमंगों-तरंगों से माहौल ने एक नई अलमस्ती की करवट ली। स्थापना के उत्सव में सुरीला पैगाम देने संगीतकार विशाल-शेखर मुंबई से तशरीफ लाये। हज़ारों वॉट की डिज़िटल रौशनी और आधुनिक ध्वनियंत्रों से लैस मंच पर जब इस युवा युगल ने गीत-संगीत का तिलिस्मी सिलसिला शुरू किया तो बच्चों और युवाओं से लेकर उम्र दराज़ तक के अपने क़दम थिरकने लगे। यह लोकप्रिय संगीत का सिर चढता असर था जो 'बचना एक हसीनों' से लेकर 'एक मैं और एक तू', 'सलाम नमस्ते' और 'ओम शांति ओम' जैसे आम फहम नगमों तक अपने मीठे-मादक अहसास में सबको डुबो ले गया।

समारोह का संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया।